चिन्तन के विविध आयाम[1]

—आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

योगामृत

☐ शुद्ध परमात्मा हमारे भीतर अनादि काल से निवास करता है। एकाग्रता से ध्यान करने पर वह सिद्ध परमात्मा अपने अन्दर मिलेगा, अन्य जड़ रूप परद्रव्य में नहीं।

☐ यह संसारी आत्मा परद्रव्य के सम्बन्ध से जब छूटता है, उसी समय सिद्ध क्षेत्र में जाकर विराजमान हो जाता है। मुक्त आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन स्वरूप से युक्त अनन्त अतीन्द्रिय सुख को भोगता है। शुद्ध चेतना के प्रगट होने से यह जीव त्रिकाल-वर्ती समस्त पदार्थों को एक ही समय में प्रत्यक्ष जान लेता है।

☐ सिद्ध भगवान् जन्म, जरा, मरण से रहित हैं। कर्मों से छूट गए हैं। सर्व व्यापार व चार गति में जाने-आने के प्रपंच से शून्य हैं। मलरहित निरंजन हैं। उपमारहित हैं। आठ परम गुण सहित हैं। अनन्त गुणों के पात्र हैं। परावलम्बन से रहित हैं। अच्छेद्य हैं। अभेद्य हैं। आनन्दमय परमात्मा हैं।

☐ अनादि काल से यह आत्मा बाह्य वस्तु में रमण करते हुए विविध विषय कषाय के आधीन होता हुआ अनेक प्रकार के कष्ट उठाता आ रहा है। शरीर आदि बाह्य पदार्थों में इस जीव को सुख और शान्ति मिलती है। बाह्य वस्तु में ही सुख मानकर सांसारिक प्राणी अपना जीवन बिता रहा है। संसार में वह अनेक वस्तुओं का परिचय करता आया; परन्तु शुद्ध सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, जो निज स्वभाव है, उस स्वभाव का बिल्कुल भी उस जीव को परिचय नहीं हुआ। यह निजी स्वरूप सम्पूर्ण वस्तुओं से भिन्न है, निर्विकार है, निर्मल है, शुद्ध है, अनेक गुणों से परिपूर्ण है। इतना होने पर भी यह जीव इसकी ओर दृष्टि न रखते हुए बाह्य पदार्थ में दृष्टि डालकर, उसी को अपना मान कर उसमें रमण कर रहा है।

☐ अध्यात्म तत्त्व को जानने से, मनन करने से तथा रुचिपूर्वक ग्रहण करने से कर्मों का नाश होता है।

☐ पूर्वबद्ध कर्मों का तप द्वारा दूर होते जाना निर्जरा और सब कर्मों का अभाव होना मोक्ष कहलाता है।

☐ जब तक आत्म-तत्त्व को जानकर उसके प्रति रुचि न होगी तब तक उससे भिन्न पदार्थों को आत्मा से अलग नहीं कर सकते। इसीलिए इस तत्त्व को भली प्रकार जानने के लिए सद्गुरु के समाधान की आवश्यकता है।

☐ आत्मा के अशुभ परिणामों से समस्त पाप-बन्ध होता है। शुभ परिणामों से शुभ कर्म-बन्ध होता है, राग-द्वेष रहित शुद्ध भावों से मोक्ष होता है।

☐ जिस प्रकार चारों दिशाओं में फैला हुआ अन्धकार सूर्य की किरणों से विलीन हो जाता है, उसी प्रकार निष्कषाय शान्त मन एवं एकाग्र चित्त से आत्म-तत्त्व का चिन्तन करने से सम्पूर्ण कर्म-समूह नष्ट हो जाते हैं।

☐ अपने आत्म-चिंतवन को पिंडस्थ ध्यान कहते हैं; समस्त चित्तस्वरूप के चिंतवन करने को रूपस्थ ध्यान कहते हैं; कर्म मल से रहित परमात्मा के चिंतवन करने को रूपातीत ध्यान कहते हैं। स्फटिक मणि के पात्र में स्वभाव से प्रकाशित होने वाली चन्द्रमा की ज्योति के समान अपने हृदय-कमल में चमकने वाले सच्चे आत्मरूप को अपने हृदय में देखना या उसी का ध्यान करना पिंडस्थ ध्यान कहलाता है। द्वादश गणों से युक्त समवशरण में विराजमान होकर बारह करोड़ सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक शरीर की कांति से सुशोभित होने वाले अरहन्त परमात्मा के स्वरूप को अपने मन में स्थिर करके चिन्तन करना रूपस्थ ध्यान है। सहज सुख, सहज ज्ञान, सहज ही होने वाले आत्म-दर्शन को मन में स्थिर कर सहज प्रेम रूप से अपने भीतर आप ही स्थिर होकर अपने आत्मा का ध्यान करना—यही सम्पूर्ण पाप को नाश करने वाला रूपातीत ध्यान है।

☐ पंच परमेष्ठियों का णमोकार मन्त्र अनन्तानन्त जन्मों में उपार्जन किए हुए सम्पूर्ण पापों का नाश करने वाला है और

१. आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के विभिन्न ग्रन्थों में से डॉ० वीणा गुप्ता तथा कु० रेखा गोयल द्वारा संकलित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्त में मोक्ष गति अर्थात् पंचम गति को प्राप्त कराने वाला है। जो भव्य जीव सदा सद्भक्ति से इस पंच परमेष्ठी के मंत्र का जप करते हैं, उनकी समस्त आपत्ति, संसार के संताप तथा पाप नष्ट हो जाते हैं और उन्हें मोक्ष की प्राप्ति होती है।

☐ जो व्यक्ति उठते हुए, गिरते हुए, चलते हुए, पृथ्वी तल पर लेटे हुए, सोते हुए, हँसते हुए, वन-मार्ग में चलते, घर में रहते, कोई भी कार्य करते हुए, पग-पग पर सदा णमोकार मंत्र का स्मरण करता है, उसकी इच्छाएं पूर्ण होती हैं। णमोकार मंत्र जपने से युद्ध, समुद्र, गजराज, सर्प, सिंह, भयानक रोग, अग्नि, शत्रु, बन्धन (जेल) आदि का तथा चोर, दुष्ट ग्रह, राक्षस, चुड़ैल का भय दूर हो जाता है।

☐ जो मनुष्य हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, पर-स्त्री-सेवन तथा लोकनिंदित अन्य पाप कर्मों में तत्पर रहता हो वह भी यदि निरन्तर णमोकार मन्त्र का स्मरण करता रहे तो कुकर्मों से उपार्जित अपनी नरक आदि दुर्गति को बदलकर मरने पर देव गति को प्राप्त करता है। यह णमोकार मन्त्र ऐसा महत्त्वशाली है जिसके प्रभाव से ऐसी कोई चीज नहीं जो शुभ न हो सके।

☐ मनुष्य को दुःख में, सुख में, भयानक स्थान में, मार्ग में, वन में, युद्ध में पग-पग पर पंच नमस्कार मन्त्र का पाठ करना चाहिए।

☐ हे आत्मन्! इस मनुष्य भव से च्युत होने के बाद तुझे अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिए तुझे यह जो नररत्न मिला है उसे पाकर यदि तू विवेकपूर्वक अपने साधन में लगा रहेगा तो तुझे आगे आत्म-शान्ति देने वाली सामग्री अपने अन्दर ही प्राप्त होगी। इसलिए धर्म की आराधना कर जिससे आत्मा को दुःख देने वाला माया का फेर मिट जाए। जब तक तू काया-माया के झंझट में रहेगा, तब तक दुःखी ही रहेगा। मन को शुभ कार्य में लगाने का प्रयत्न कर क्योंकि शुभ कार्य करने के लिए इस समय शुभ अवसर है। प्राप्त किये हुए नर-रत्न को वृथा गंवाना ठीक नहीं है। तेरे भाग्य के उदय से सत्य उपाय बतलाने वाले सद्गुरु तुझे मिले हुए हैं। चिंता आदि से छुटकारा पाने के लिए सद्गुरु तुझे जगा रहे हैं। इस लक्ष्य से उपयोगपूर्वक तू सद्गुरु का उपदेश सुन।

☐ तू पर-वस्तु के लिए जितना परिश्रम करता है और पेट भर अन्न भी नहीं खाता, यदि उतना श्रम अपने आत्म-साधन में थोड़ी देर तक करता रहे तो तेरा चिन्ता-जाल नष्ट हो जाएगा और तुझे आत्मस्वरूप की पहचान हो जाएगी। जब तक विषय-वासना का संग नहीं छूटेगा तब तक तुझे निजात्म-सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। सद्गुरु कहते हैं कि हे आत्मन्! ठीक विचार कर ले कि मैं कौन हूं? मेरा स्वरूप क्या है? मेरा कर्तव्य क्या है? इस मानव भव को प्राप्त करके मुझे क्या करना है? क्योंकि ठीक विचार करने की बुद्धि इस मानव पर्याय में ही है।

☐ आत्मिक गुणों में प्रेम रखने से व्याधि दूर भागती है। अनन्त गुण प्रकट होते हैं। इस प्रकार का विचार-विवेक जिस प्राणी के अन्दर नहीं आता, उसको आत्म-तत्त्व का ज्ञान कहां से आ सकता है?

☐ हे भव्य प्राणी! तू अनादिकाल से परवस्तु के व्यासंग में पड़कर अपने आत्म-कल्याण से वंचित रहा। यदि तू सम्पूर्ण व्यासंग को छोड़कर अपने आत्म-व्यासंग में रत होकर अपने को अपने अन्दर अन्वेषण करेगा तो तुझे अपने अन्दर ही अपनी प्राप्ति होगी। हे जीव! अब तू इस व्यासंग को छोड़कर अपने आपको देख। तुझे अपने अन्दर ही अखण्ड सुख और शान्ति मिलेगी।

☐ जब तक यह भव्य मानव प्राणी भगवान् जिनेश्वर द्वारा कहे हुए तत्त्व का रुचिपूर्वक अभ्यास करके उस पर श्रद्धा नहीं रखता, तब तक यह संसार रूपी समुद्र को पार नहीं कर सकता।

☐ हे जीव! जब तक तेरी पीठ की हड्डी न झुके, जब तक तेरी आँखों की रोशनी न जाए, आँखों से अच्छी तरह दीखता रहे, हाथ में डंडा न आए, तब तक तू अपने अन्दर को ठीक समझ कर आत्म-चिन्तन कर। वृद्धावस्था में सामान्यतः चित्त की स्थिरता न होने के कारण तेरा शुद्धात्मा होना अत्यन्त कठिन है। इसलिए वृद्ध अवस्था प्राप्त करने से पहले आत्म-स्वरूप का चिन्तन करना तेरे लिए अत्यन्त उचित है।

☐ इस शरीर में स्थित पंचेन्द्रियों की विषय-वासनाओं में आसक्त होकर अनन्त दुःख उठाते हुए संसार दीर्घ काल से परिभ्रमण कर रहा है। इसलिए हे आत्मन्! तेरे शरीर में जब तक वृद्धावस्था ने प्रवेश नहीं किया तब तक तुझे अपना आत्महित कर लेना योग्य है। तू एकाग्र होकर अपने अन्दर विचार कर। तेरे अन्दर न पर-वस्तु है, न राग है, न मोह है, न आत्मा में आत्मा से भिन्न पर-विकार है। जिस शरीर के लिए तू अनादि काल से जन्म-मरण करता आ रहा है, यदि विचार करके देखा जाए तो यह शरीर क्षणिक और अशाश्वत है।

☐ मनुष्य का जीवन चिन्ता और दुःखों का जीवन है। प्रत्येक मनुष्य दिन-रात दुःखों का अनुभव करता है। उन दुःखों की न कोई सीमा है, न कोई अन्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

☐ जो कुटुम्ब से छूटा तो नहीं छूटा, भाव से छूटा तो छूटा। जो साधु भाव से मुक्त हो गया उसको मुक्ति मिल गई। स्त्री, कुटुम्ब, मित्र आदि से मुक्त होने से उसको मुक्त नही कहा जा सकता। इसलिए ऐसा समझकर तू आभ्यतर वासना को छोड़। भव्य जीव को केवल बहिरग से ही नहीं, अपितु द्रव्य और भाव दोनों से मुक्त होना चाहिए। मोक्ष की प्राप्ति तभी हो सकती है।

☐ हे आत्मन्! चलते समय, बोलते समय, सोते समय, खाते समय, व्यवहार करते समय या अन्य किसी हालत में क्यों न हो, प्रतिदिन अपने से आपको देखो तथा चिन्तवन करो। इस प्रकार चिन्तवन करने से तुम्हारी कोई हानि नहीं है। इसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र होगी। सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र, जो आत्मा का धर्म है, वही अपना स्वरूप है। जब तक उसकी शरण में नहीं जाओगे तब तक इस जीव की कोई रक्षा करने वाला नहीं है, सुख और शान्ति को देने वाला नहीं है।

☐ इन नश्वर वस्तुओं के लिए मनुष्य घोर प्रयत्न करता रहता है। फिर भी ये वस्तुए मनुष्य की सर्वदा सहचर नहीं होतीं। सर्वदा सहचर है तो एकमात्र धर्म ही है जो कभी भी साथ नहीं छोड़ता अर्थात् परलोक जाने के समय मनुष्यों का एकमात्र सखा धर्म ही है। अतः ज्ञानी जीव को धर्म से अलग कभी नहीं होना चाहिए। इस संसार में धर्म के सिवाय और किसी से भी सुख और शान्ति आज तक नहीं मिली।

☐ जो सिद्ध ज्योति सूक्ष्म भी है, स्थूल भी है, शून्य भी है, परिपूर्ण भी है, उत्पाद-विनाशशाली है, नित्य भी है, सद्भावरूप भी है और अभावरूप भी है, एक भी है, अनेक भी है, ऐसी दृढ़ प्रतीति को प्राप्त हुई वह अमूर्तिक, चेतन, सुख स्वरूप सिद्ध ज्योति किसी बिरले ही योगी पुरुष के द्वारा देखी जाती है। मिथ्यात्व रागादिक के छोड़ने से निज शुद्धात्म द्रव्य के यथार्थ ज्ञान में जिनका चित्त परिणत हो गया है, ऐसे ज्ञानियों को शुद्धबुद्ध परम स्वभाव परमात्मा को छोड़कर दूसरी कोई भी वस्तु सुन्दर नहीं दिखती। इसलिए उनका मन कभी विषय-वासना में नहीं रमता।

☐ कर्मों से मोक्ष तभी हो सकता है जब शरीर से ममता दूर हो। अपनी आत्मा के प्रति गाढ़ श्रद्धान् होकर, आत्मा को सांसारिक विषयों से उसी प्रकार खींच लिया जाये जिस प्रकार वृक्ष को जड़ समेत जमीन से उखाड़कर खींच लिया जाता है। जब तक तुम्हारे भावों में कर्म की जड़ मोह खींचने की शक्ति नहीं होगी तब तक बाह्य तपस्या से कर्म की निर्जरा न होगी और आत्मा का अनुभव नहीं होगा।

☐ परीषहों की तीव्र वेदना से दुखित होकर जिस समय तू परम उपशम भावना करेगा उस समय आधे क्षण में तेरे समस्त अशुभ कर्म नष्ट हो जायेंगे।

☐ जो पुरुष परीषह सुभटों से भयभीत होकर चारित्र रूपी संग्राम भूमि को छोड़कर भागते हैं वे ससार में हास्य के पात्र बनते हैं और अनेक प्रकार के दुःखों का उन्हें सामना करना पड़ता है। जो पुरुष संसार से भय करने वाले हैं और संसार के दुःखों को भोगना नहीं चाहते, उन्हें चाहिए कि वे चारित्र को प्राप्त होकर परीषहों के भय से विमुख न हों, किन्तु परीषहों रूपी सुभटों की कठिन मार झेलते हुए भी बढ़ते चले जाएं। अखण्ड अविनाशी मोक्ष राज्य को पाकर कीर्ति का उपार्जन करें एवं समस्त प्रकार के दुःखों से छूटें।

☐ हे योगी! तू जिस शरीर को धारण किये हुए है, उस शरीर में यह आत्मा सुज्ञान, सुदर्शन, सुख और शक्ति रूप से युक्त है। यह आत्मा निराकार है, किन्तु साकार शरीर में रह रही है।

☐ यह मनुष्य-जीवन प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। ज्ञानी लोग अज्ञान में फँस कर काल के एक क्षण को भी व्यर्थ नहीं करते। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र स्वरूप स्व-समय है और उससे भिन्न जितना भी पर है वह सब पर-समय है। ऐसा विचार करके कि स्व-समय ही मेरा आत्म-स्वरूप है जो उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है वह भव्यज्ञानी जीव आत्म-तत्त्व को उपादेय समझ कर अपने को आप प्राप्त होता है।

☐ जितना-जितना आप अपने अन्दर रत होकर भावना करेंगे उतना-उतना ही आत्म-सुख को प्राप्त होंगे। परवस्तु का आश्रय करने वाले कभी आत्म-सुख की प्राप्ति नहीं कर सकते। बाह्य विषय-वासना में फंसकर अपने आत्मा से वंचित रह कर तू अपने मनुष्य-जन्म को व्यर्थ ही मत खो।

☐ जीव का स्वभाव ज्ञान है। जीवों को जितने भी दुःख, उद्वेग, क्षोभ होते दीखते हैं वे सब रागद्वेष के वश में होने से व अज्ञान के रहने से ही हैं। इसी प्रकार जहां-जहां पर रागद्वेष की कमी व ज्ञान की वृद्धि दीख पड़ती है वहां-वहां पर सुख-शान्ति व अनुद्वेग देखने में आता है। पर-वस्तु को त्यागे बिना सुख और शान्ति नहीं मिलती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

□ विवेकी जन एकाग्र होकर सम्पूर्ण पर-पदार्थ को त्याग करके जब आत्मा में लीन होता है तब वह अपने अन्दर आत्मा का अनुभव करके उसी में रत होकर अखण्ड अविनाशी सुख की प्राप्ति करता है।

□ आत्मा एक दिन में दीखने वाला नहीं है। क्रम-क्रम से ही दीखेगा। आत्मा कभी-कभी अनेक चन्द्रमाओं और सूर्यों के प्रकाश के समान उज्ज्वल होकर दिखाई देता है। कभी-कभी चंचलता आने पर मन्द दिखाई देता है, फिर स्थिरता आने पर प्रकाशमान दिखाई देता है। हे योगी! ध्यान के समय जो प्रकाश दीखता है वह श्रुतज्ञान है, सुदर्शन है, रत्नत्रय है। जिस समय कर्म झरने लगता है तब आत्म-सुख की वृद्धि होती है।

□ जिस समय आत्मा अपने निज स्वरूप में रत हो जाता है, बाहर की बोल-चाल बन्द हो जाती है। शरीर नहीं चलता है। कोई संकल्प-विकल्प की भावना नहीं आती है। कषाय की भावना बन्द हो जाती है। मन स्थिर होता है तब आत्मा उज्ज्वल प्रकाशमान दिखाई देती है।

□ योगियों को चाहिये कि वे अविद्या रूपी प्रबल शत्रु से बचें तथा कल्याणकारी परम पवित्र अध्यात्म-विद्या रूपी सूर्य हृदय से स्वीकार करें। अविद्या ही चेतन तथा अचेतन तथा सूक्ष्म पदार्थ में शंका करा देती है।

□ जब तक मन, वचन, काम और इन्द्रियाँ वश में न होंगी तब तक कभी स्वाध्याय नहीं हो सकता। बिना स्वाध्याय के कर्मों का क्षय और अनुपम मोक्ष का प्राप्त होना असम्भव है। केवल ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद तीनों लोकों के समस्त प्राणियों को समझाने योग्य निरक्षर दिव्य ध्वनि होने लगेगी जिससे विश्व कल्याणकारी महाधर्मोपदेश के प्रभाव से समस्त प्राणियों को स्व-पर का अमित ज्ञान-लाभ होगा। जो स्व-पर-ज्ञान करके अपना कल्याण करना चाहता है उसे हमेशा सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय से अपने अज्ञान को दूर करना चाहिए।

□ ज्ञानी के हृदय-स्थान में जो ज्ञान रूपी दीपक प्रकाशमान है, वह उत्कृष्ट प्रकाश है। वायु आदि कोई भी द्रव्य उसका विनाश नहीं कर सकता। सूर्य-प्रकाश तो आकाश में मेघ-मालाओं से आच्छादित हो जाता है, परन्तु ज्ञान-सूर्य सदैव प्रकाशमान रहता है।

□ हे प्राणियो! तुमको सुख और शान्ति चाहिए तो मोह-निद्रा को त्याग कर जाग्रत हो जाओ। अगर मृत्यु का भय नहीं चाहते हो और जन्म-मरण में पड़ना नहीं चाहते हो तो तुम आत्म-सुख की प्राप्ति का प्रयत्न करो। आयु का कोई भरोसा नहीं है।

□ मोहरूपी कर्दम के क्षीण होने पर तथा रागादिक परिणामों के प्रशान्त होने पर योगीगण अपने में ही परमात्मा के स्वरूप का अवलोकन करते हैं। हे आत्मन्! अपने मन को संक्लेश, भ्रान्ति और रागादिक विकारों से रहित करके अपने मन को वशीभूत कर तथा वस्तु के यथार्थ रूप का अवलोकन कर।

□ परमात्मा तुम्हारे शरीर में पाँव के अंगुल से लेकर मस्तिष्क तक सम्पूर्ण अवयवों में तेल में तिल की भाँति रमा रहता है। वह ज्ञान स्वरूप और सम्यक् चारित्र रूप अत्यन्त तेजस्वी प्रकाश स्वरूप है। वह पुनः मंगल स्वरूप, अतिशय युक्त, कषाय रहित होकर अपने स्वरूप को प्राप्त होता है।

□ जब तक संसार की सार तथा असार वस्तु को विचार कर नहीं देखोगे तब तक आत्म-साधन की सामग्री प्राप्त होने पर भी आत्म-सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए सबसे पहले जिस वस्तु को प्राप्त करना है उसके कारण को ठीक समझ लो। बिना कारण समझे साधन भी निरर्थक हो जाते हैं।

□ इस शरीर के साथ सम्यग्दर्शन सहित संयम और चारित्र की जरूरत है। चारित्र धारण किये बिना और अन्तरंग बाह्य तप के साधन के बिना कर्म हटेगा नहीं। शारीरिक शक्ति केवल बाह्य शत्रु का नाश करती है, किन्तु अन्तरंग कषाय शत्रु का नाश करने में असमर्थ है। अगर इस शरीर के साथ संयम हो तो वह अन्तरंग व बाह्य शत्रु दोनों का नाश कर देती है।

□ शरीर और आत्मा में रहने वाले भेद को समझकर यह मूर्ख जीव अत्यन्त कठिन तप करके शरीर को सुखा देता है। परन्तु आत्मा में अनादिकाल से चिपके हुए कर्म का नाश करने की भावना उसमें नहीं होती। केवल बाह्य तप को ही कर्म की निर्जरा का कारण समझता है। आत्मा का भेद-भेदक ज्ञान और बहिरंग-अन्तरंग दोनों मिलकर तपस्या हो तो आत्मा में चिपका हुआ कर्म नष्ट हो जाता है।

□ हे अज्ञानी जीव! अनादिकाल से बाह्य वस्तु का भोगी होकर तू अनेक प्रकार के दुःख भोग रहा है। अब तो चेत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह तू जन्म-मरण कब तक करेगा। अपने मन में स्थिर होकर सोच तो।

☐ अपने आत्मा में रत होकर यथार्थ रूप का अनुभव करो। यही सम्यक् श्रद्धान है। आत्मा का जानना सम्यक् ज्ञान है। अपने आत्मा का आचरण करना, रागद्वेष में परिणत न होना, अपने आत्मा में रमण होना उसका नाम चारित्र है। यही रत्नत्रय है। यही मोक्ष मार्ग है।

☐ ज्ञान की आराधना करने का या ज्ञान में मग्न होने का असली व उपयोगी फल यही है कि परोक्ष व अल्प श्रुतज्ञान हट कर सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान का लाभ हो। यह फल अविनश्वर है व आत्मा को पवित्र व सुखी बनाने का कारण होने से स्तुत्य है।

☐ शास्त्रों का ज्ञान होने से वस्तुओं पर सच्चा प्रकाश पड़ता है और कर्म-कलंक जल जाते हैं। इसलिए शास्त्रज्ञान एक प्रकार की आग है। अग्नि में पड़ने से जैसे रत्न शुद्ध होकर चमकने लगता है वैसे ही निर्मोह हुए भव्य जीव शास्त्र-ज्ञान में मग्न होकर कर्म-कालिमा को जला डालते हैं और निर्मल होकर कर्मों से छूटकर प्रकाशमान होते हैं।

☐ हे निर्बुद्धि जीव! अपने आत्मस्वरूप को पहचान। यदि तू बाह्य इन्द्रियजन्य विषय-भोग के मोह को त्याग कर अपने अन्दर आप ही रत होकर अपने को देखेगा तो तू ही परमात्मा बन जाएगा। स्वयं तू ही मोक्ष रूप है। इसलिए भावलिंगी बनकर आत्मस्वरूप का चिन्तन कर।

☐ आत्म-ज्ञान रहित तप करने वाले योगियों को उनकी पांचों इन्द्रियां पंचाग्नि के समान हैं और अध्यात्म सहित होकर तप करने वाले आत्मज्ञानी की पाँचों इन्द्रियाँ पंचरत्न के समान हैं, ऐसा समझना चाहिए। आत्मज्ञान सहित तप करो। आत्मज्ञान रहित तप सदा दीर्घ संसार और दुःख का कारण बनता है। इससे तुझे संसार में अनेक दुःखों को सहन करना पड़ेगा।

☐ अगर असली मोक्ष फल की इच्छा है तो तुझे लोकव्यवहार की वांछा छोड़नी ही पड़ेगी।

☐ जो योगी व्यवहार से बाहर जाकर केवल अभेद एकरूप अपने आत्मा के स्वरूप में ठहर जाता है, उस योगी को स्वात्म ध्यान के बल से कोई अद्भुत परमानन्द प्राप्त होता है। यही आनन्द का अनुभव वीतरागमयी ध्यान की अग्नि है जो निरन्तर जलती हुई बहुत अधिक कर्मों के ईंधन को जलाती है।

☐ सबसे पहले इन्द्रियजन्य विषयभोगादि पर-पदार्थ का ध्यान छोड़कर एकाग्रतापूर्वक अपने अन्दर ही आपको देख। बाहरी चिन्ता को रोक और निश्चिन्त होकर अपने मन की समस्त चिन्ताओं को छोड़कर अपने परम पद का ध्यान कर और निरंजन देव को देख।

☐ तेरी आत्मा ही शिवरूप है। यह शिवरूप आत्मा अपने अन्दर ही है, ऐसा समझकर पर को हटा और स्वभाव में रत हो जा। शिव कल्याण का ही नाम है। अतः कल्याणरूपी, ज्ञान स्वभाव, निज शुद्धात्मा को जानो। उसके तो दर्शन अनुभव से जैसा सुख होता है, वैसा सुख परमात्मा को छोड़कर तीनों लोकों में भी नहीं है।

☐ जिस तरह गरुड़ का ध्यान करने से सर्प का विष उतर जाता है उसी तरह शुद्धात्मा का ध्यान करने से अनादिकाल से आत्मा के साथ लगा हुआ कर्मरूपी विष फौरन नष्ट हो जाता है और यह जीवात्मा शुद्ध परमात्मा बन जाता है।

☐ यदि तू राग और द्वेष दोनों का त्याग करेगा तो कर्म नाश होकर तुझे मोक्ष की प्राप्ति होगी। रागद्वेष दोनों का त्याग करने से योगी जनों का कर्म नाश होकर उन्हें विशुद्ध निरंजन परमात्म पदवी प्राप्त होती है।

☐ जो महात्मा जन्म-मरण से रहित, एक, उत्कृष्ट, शान्त और सब प्रकार के विशेषणों से रहित आत्मा को आत्मा के द्वारा जानकर उसी आत्मा में स्थिर रहता है वही अमृत अर्थात् मोक्ष के मार्ग में स्थित होता है। वही अरहन्त, तीनों लोकों का स्वामी, प्रभु एवं ईश्वर कहा जाता है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, और अनन्त सुख-स्वरूप जो वह उत्कृष्ट तेज है, उसके जान लेने पर अन्य क्या नहीं जाना गया? उसके देख लेने पर अन्य क्या नहीं देखा गया? उसके सुन लेने पर अन्य क्या नहीं सुना गया? अर्थात् एकमात्र उसके जान लेने पर सब कुछ जान लिया गया।

☐ मोह से रहित, अपने आत्महित में लीन तथा उत्तम चरित्र से संयुक्त जो मुनि मोक्ष-प्राप्ति के लिए घर आदि को छोड़ कर तप करते हैं वे बहुत थोड़े हैं। फिर जो मुनि स्वयं तपश्चरण करते हुए अन्य मुनि के लिए भी शास्त्र आदि देकर उसकी सहायता करते हैं तो वे इस संसार में पूर्वोक्त मुनियों की अपेक्षा और भी दुर्लभ हैं।

☐ जीव द्रव्य स्वतः सिद्ध है। इसका आदि नहीं है। इसी प्रकार अन्त भी नहीं है। यह जीव अमूर्त है, ज्ञान, दर्शन, सुख,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीर्यादिक अनन्त धर्म है। इसलिए यह नाशरहित द्रव्य है। यह जीव साधारण गुण सहित है और असाधारण गुण सहित भी है। विश्व रूप है, परन्तु विश्व में ठहरा नहीं है। सबसे उपेक्षा रखने वाला है तो भी सबको जानने वाला है।

☐ जो आत्मा कर्म से बंधा हुआ है वही संसारी है। संसारी आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप से रहित है। आत्मा का स्वरूप शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध वीर्य आदि अनन्त गुणात्मक है। इसलिए संसारी आत्मा असली स्वभाव का अनुमान नहीं करता है। जब यह दोष और आवरण मूल आत्मा से हट जाता है तब वही आत्मा निज शुद्ध रूप का अनुभव करने लगता है।

☐ जीवन-मरण में, लाभ-हानि में, अनिष्ट वस्तुओं के संयोग में, इष्ट वस्तुओं के वियोग में, शत्रु और मित्र में, सुख और दुख आदि में समभाव रखना ही उत्तम तपस्या है। समभाव ही उत्तम चरित्र है। समभाव ही शुद्धात्मा है और समभाव ही समस्त कर्मों का नाश करने वाला है।

☐ हे आत्मन्! तू संसार में समभाव के बिना विकार भाव को प्राप्त करके परिभ्रमण करता आया है। इसलिए अब तू पर-वस्तु के अवलम्ब को छोड़कर अपनी आत्मा का ही आश्रय ग्रहण कर। जब तक पर के आश्रित रहेगा, तब तक तुझे इस शरीर के साथ सुख और शान्ति नहीं मिल सकती। परीषहों की तीव्र वेदना से दुःखित जिस समय तू परम उपशम भावना करेगा उस समय अर्ध क्षण मे तेरे समस्त अशुभ कर्म नष्ट हो जायेंगे।

☐ परीषह रूपी दावानल से संतप्त हुआ जीव जब निर्विकल्प हो ज्ञानरूपी शीतल स्वच्छ सरोवर में प्रवेश करता है और स्वभावरूपी जल में स्नान करता है, तब उस समय इसे निर्वाण, मोक्ष धाम की प्राप्ति होती है।

☐ हे आत्मन्! यहां संसार रूपी शत्रु तब तक ही दुःख दे सकता है जब तक तेरे भीतर ज्ञानरूपी ज्योति को नष्ट करने वाले कर्मबन्ध रूप दोष स्थान प्राप्त किये हैं। यह कर्मबन्ध रूप दोष राग और द्वेष के निमित्त से होता है। इसलिए मोक्ष सुख का अभिलाषी होकर तू सबसे पहले यथाशीघ्र यत्नपूर्वक उन दोषों को छोड़ दे।

☐ पुण्य कर्म का उदय जब तक रहता है तभी तक विषय-भोग टिकते हैं, नहीं तो वे पुण्य कर्म के खत्म होते ही रात्रि में कमल की तरह विलीन हो जाते हैं। आत्मा में उपज कर भी आत्मीय शुद्ध भावों से ये विषय सदा जुदा रहते हैं।

☐ अरे जीव! तू निरर्थक, दुःखदायक विषयों में फँसकर भौंरे की तरह प्राण क्यों गंवाता है। ये विषय भोगते समय तो कमल की तरह कोमल लगते हैं, पर, जिस प्रकार कमल फँसे हुए भौंरे को आखिर में मारकर छोड़ता है, उसी प्रकार ये विषय अपने में फँसे हुए जीवों को अनेक बार प्राणान्त दुःख देने वाले हैं।

☐ हे योगी! अगर तुझे सच्चा आत्म-ज्ञान करना है तो अज्ञान के मार्ग को छोड़कर सुज्ञान मार्ग में प्रवेश कर। अज्ञान ही संसार के लिए कारण है। अज्ञान से अनेक प्रकार की निंद्य गति में परिभ्रमण करना पड़ता है, जो हमेशा के लिए दुर्गति का कारण है।

☐ यह शरीर क्षणभंगुर है व आधि-व्याधि तथा बुढ़ापे के दुःखों से परिपूर्ण है। तेरा निजात्मा अजर, अमर अव्याबाध व शाश्वत सुख का धाम है। फिर तू इस तुच्छ शरीर से प्रेम क्यों करता है। तू स्वतः सम्पूर्ण चराचर विषयों को जान सकता है, परन्तु शरीर ने तुझे अत्यन्त अज्ञानी बना रखा है। जड़ के समान मूर्ति सरीखा बना दिया है, बहुत मलिन कर दिया है।

☐ हे निर्बुद्धि, अज्ञानी बहिरात्मा जीव! तू कितना मूर्ख है। तेरे पास अखंड, अविनाशी, अत्यन्त पवित्र परमात्म सुख स्वरूप निजात्म निधि होने पर भी तू उसकी पहचान न करके क्षणिक तथा निरन्तर दुःख देने वाले मिथ्या मार्ग का अनुसरण करके अपनी सुबुद्धि से विमुख होता है।

☐ इस जीव में जो शुभ और अशुभ कर्म का उदय होता है वह सत्य और असत्य निमित्त से आता है। तब यह जीव उस सुख और दुःख को भोगने वाला बन जाता है।

☐ हे योगी! सत्पुरुषों पर कितना भी कष्ट का समय आ जाए या दुश्मन के द्वारा उपसर्ग हो फिर भी वे अधर्म को प्राप्त नहीं होते। आत्म-चिन्तन को नहीं त्यागते। धैर्यपूर्वक उसका चिंतवन करते हैं। मुनियों पर दुर्जनों के द्वारा कितना भी उपसर्ग क्यों न हो वे अपने आत्म-ध्यान से च्युत न होकर कभी भी विकार भाव को उत्पन्न नहीं होने देते। जितना-जितना कष्ट आता है उतना-उतना सहन कर कर्म की निर्जरा का कारण बना लेते हैं। क्योंकि क्षमा गुण सबसे बड़ा और प्रधान है।

☐ हे जीव! तू भी उपसर्ग को दृढ़ता से सहन करता हुआ आत्मा में स्थिरता लाने का पुरुषार्थ कर। शुद्धात्म भावना के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा उपसर्ग को दूर करने के लिए प्रयत्न कर। शत्रु और मित्र के प्रति समान भाव रख। यही परम साधु का कर्तव्य है। इससे संसार में सुख, शान्ति मिल सकती है। थोड़े ही समय में तू संसार का अन्त कर मोक्ष की प्राप्ति कर लेगा। प्राणी मात्र के लिए सम्यक्त्व के अतिरिक्त कल्याण करने वाला अन्य कोई पदार्थ तीन काल और तीन लोक में नहीं है। मिथ्यात्व के समान अहित करने वाला अन्य पदार्थ दूसरा कोई नहीं है।

☐ हे योगी! सम्यग्दर्शन सहित आराधना करके इस संसार रूपी बन्धन से शीघ्र ही तर जा। बिना सम्यक्त्व के मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस सम्यग्दर्शन से महापापी भी तर गये हैं।

☐ जब तक पर-वस्तु में आत्मा लिपटी रहती है तब तक इस आत्मा का सच्चा कल्याण नहीं होता। पर-वस्तु ही आत्म-घात करने वाली है। पर-वस्तु ही संसार में इस जीव को परिभ्रमण कराने का कारण है।

☐ देह आदि परद्रव्यों पर विश्वास रखकर चलने वाला यह अज्ञानी मानव कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता। अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार सुख और दुःख का अनुभव करता हुआ सदा संसार में ही भ्रमण करता रहता है।

☐ जो ज्ञानी पुरुष संपूर्ण बाह्य वस्तु को त्याग कर अपनी आत्मा में रमण करता है, वह शीघ्र ही कर्मों की निर्जरा करके संसार से अर्थात् कर्म बन्धन से छूट सकता है। हे योगी! सम्पूर्ण बाह्य वस्तु के मोह को त्याग कर अपने आत्मसम्मुख होकर, अपने अन्दर ही अपने को अपने 'स्व' उपयोग के द्वारा देख; तत्पश्चात् अपने 'स्व' उपयोग के द्वारा अपने 'स्व' स्वभाव का निरीक्षण करने पर "यह आत्मा चिन्मय चित् ज्योति रूप है"—ऐसा तुझे अपने अन्दर ही मालूम पड़ेगा। तब उसमें मग्न होकर अमृतमय, आत्मानन्द सरोवर में क्रीड़ा कर, बार-बार उसी अमृत का पान कर, निजात्म को पुष्ट कर; आत्म बल को बढ़ा।

☐ हे योगी! यदि अमृतमय आत्मानन्द रूपी रसायन का एक बार तू पान करेगा तो तेरे साथ लगा हुआ कर्म रूपी रोग क्षणभर में नष्ट होगा और सदा के लिए तेरी दरिद्रता दूर होगी। तू अपने अन्दर भरे हुए रत्नों के खजाने को छोड़कर दुनिया के पहाड़, पत्थर, नदी, सरोवर, तीर्थक्षेत्र आदि में भ्रमण करके व्यर्थ ही कष्ट क्यों उठा रहा है? जरा तू पर पदार्थ की तरफ लगी हुई दृष्टि हटाकर अपने भीतर छिपी हुई रत्नत्रय निधि को ध्यान से देख तब पता लगेगा कि तीन लोक का सारा खजाना तेरे पास ही छिपा हुआ है। तत्पश्चात् बाह्य पदार्थ में दौड़ने वाला तेरा चंचल मन जब इसी में स्थिर हो जाएगा तब तुझे अजर, अमर, अचल स्थिर निज शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्ति हो जाएगी।

☐ हे जीव! तू अनादिकाल से आज तक अनेकानेक बाह्य विचित्र चित्रों को देखकर आश्चर्यचकित हुआ होगा। परन्तु तीन लोक को आश्चर्यचकित करने वाली अद्भुत वीतराग निर्विकल्प परम ज्योति तेरे ही पास है। उसे देखकर तू कभी आश्चर्य को प्राप्त नहीं हुआ होगा।

☐ परमात्मा के नाम मात्र से ही अनेक जन्मों के एकत्रित पापों का नाश होता है। उक्त परमात्मा में स्थित ज्ञान, चारित्र और सम्यग्दर्शन मनुष्य को जगत् का अधीश्वर बना देता है। जिस मुनि का मन चैतन्य स्वरूप में लीन होता है वह योगियों में श्रेष्ठ हो जाता है। हे भव्य जीव! तू इस संसार की विषयवासना का मन, वचन, काय से त्याग करके शुद्ध, अखण्ड, अविनाशी ज्योति जो शरीर में निरन्तर प्रकाशमान हो रही है उसके दर्शन कर।

☐ हे साधु! बाह्य शरीर जो पुद्गलमय है, ऊंच-नीच कर्म के अनुसार इस आत्मा के साथ प्राप्त हुआ है। वह तेरा स्वरूप नहीं है। आत्मा में न लिंग है, न जाति है, न वेष, न गोत्र। वह निर्विकार, निरंजन, चित्स्वरूप अरूपी है। इसलिए तू जाति आदि बाह्य भावों को छोड़कर केवल एक आत्मा का ही ध्यान कर। आत्मा का स्वभाव अविनाशी है जबकि शरीरादि पदार्थ नश्वर हैं। आत्मा ज्ञानमय है जबकि शरीरादि जड़ हैं। आत्मा निर्मल वीतरागी है जबकि क्रोधादि कर्म विकाररूप हैं। आत्मा सर्व आकुलता व दुःखों से रहित परमानन्द रूप है जबकि शरीरादि व क्रोधादि का सम्बन्ध जीव को आकुल व दुःखी करने वाला है। इस तरह आत्मा व अनात्मा का सच्चा स्वरूप जान।

☐ जितने भी नाम हैं सब शरीर के हैं, आत्मा के नहीं। संसार की माया से अज्ञानी जीव इसी को अपना नाम मानकर संसार में भ्रमण करते हैं।

☐ इष्ट अनिष्ट वस्तुओं में समभाव का होना ही परम मोक्ष है। समभाव ही समस्त सुख का वास स्थान है। समभाव ही मुक्ति का मार्ग है। समभाव से युक्त तपश्चर्या ही सफल है। समभाव रहित तपस्या व्यर्थ है।

☐ परीषह रूपी दावानल से सन्तप्त हुआ जीव जब निर्विकल्प हो ज्ञान रूपी शीतल स्वच्छ सरोवर में प्रवेश करता है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'स्व' स्वभाव रूपी जल में स्नान करता है उस समय उसे निर्वाण मोक्षधाम की प्राप्ति होती है ।

□ इष्ट व अनिष्ट वस्तुओं में समता भाव अगर नहीं रहेगा तो ध्यान की शुद्धि नहीं हो सकती । इसलिए योगी को समभाव रखना ही उचित है । यदि वह समभावपूर्वक ध्यान करेगा तो वास्तव में मोक्ष की प्राप्ति हो जाएगी । परभाव से मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं होती ।

□ जैसे समुद्र में फैंके हुए रत्न का हाथ आना मुश्किल है वैसे ही मनुष्य जन्म भी अत्यन्त दुर्लभ है । तिर्यन्च पर्याय से निकल कर अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य भव को प्राप्त करके भी यह जीव मिथ्यादृष्टि होकर पाप का अर्जन करता है । हे योगी ! उत्कृष्ट मनुष्य पर्याय प्राप्त होने के बाद तू मन लगाकर इष्ट और अनिष्ट वस्तु की ममता को छोड़कर समता भाव की आराधना कर, तभी मोक्ष की प्राप्ति हो सकता है । बिना समता के करोड़ वर्ष तू तप भी करेगा तो भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती । इसलिए तू समभाव का अभ्यास करके इस संसार रूपी कारागार से मुक्त होने की चेष्टा कर ।

□ वीतरागी, ज्ञानी, योगी मन में विचार करके अपने आत्म-स्वरूप से च्युत नहीं होता । वह अपने समता रूपी खड्ग के द्वारा कर्मों की निर्जरा करके अखण्ड शुद्धात्मा के सुख की प्राप्ति कर लेता है । जो ज्ञानी पुरुष धर्म में एकाग्र मन रहता है और इन्द्रियों के विषयों का अनुभव नहीं करता, उनसे सदा विरक्त रहता है, स्पर्शन आदि इन्द्रियों के विषयों का कभी सेवन नहीं करता, संसार, शरीर और भोगों से उदासीन रहता है उसी ज्ञानी को धर्म-ध्यान होता है ।

□ जहाँ तुझे धर्म-ध्यान में बाधा आती है; जिस जगह तेरे मन में विकार आता है; अप्रसन्नता होती है, ऐसे स्थान को छोड़कर एकान्तवासी बन । तू घर-परिवार वगैरह की चिन्ता करता हुआ मोक्ष कभी नहीं पा सकता । अतः उत्तम तप का ही बारम्बार चिन्तन कर, क्योंकि तप से ही तू श्रेष्ठ मोक्ष सुख को पा सकेगा ।

□ ममता ही दुःखों को बढ़ाने वाली है व ममता का त्याग ही मुक्तिरूपी लक्ष्मी को प्राप्त कराने वाला है । अब यह मानव जन्म पाया है तो शरीर में व शरीर के भीतर इन्द्रियों में ममता की जाएगी तो कर्मों का ऐसा बन्ध होगा जिससे इस जीव को नरक निगोद आदि गतियों में जाकर दुःखों को बढ़ावा मिलेगा । फिर मानव जन्म का मिलना ही दुष्कर हो जायेगा । यह मानव बुद्धिमानी से क्षणभंगुर व अपवित्र शरीर पर ममत्व न करे और अपनी आत्मा के स्वरूप को पहचान कर उसका ध्यान करे तो इसी जन्म में मोक्ष की अनुपम सम्पदा को पा सकता है ।

□ जब तक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता तब तक जीव यह मेरा और यह तेरा है ऐसा रागद्वेषादि मोह भाव रखता है । वैराग्य होने के बाद यह राग और मोह भाव बिल्कुल नष्ट हो जाता है । जब तक अपने अन्दर ही वैराग्य उत्पन्न नहीं होता; तब तक बाह्य विषय में ही सन्तोष मानता है । अपने को आप जानने के बाद विषय सुख में सन्तोष नहीं होता ।

□ हे आत्मन् ! जब तक तू पंचेन्द्रिय विषय सुख को दूर नहीं करता तब तक तुझे अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती । यदि तू आत्मानन्द को प्राप्त करना चाहता है तो तुझे अतीन्द्रिय सुख का सेवन करना ही उचित है ।

□ सुगन्ध या दुर्गन्ध—ये दोनों तेरे ज्ञान रूप नहीं हैं । ये दोनों जड़ और चेतन रहित हैं । तू उनके प्रति राग और द्वेष के द्वारा अशुभ पाप का बन्ध करता है । तू अपने शरीर के अन्दर अनादिकाल से कर्मों के अन्दर दबे हुए निर्गन्ध आत्मानन्द की सुगन्ध का अनुभव क्यों नहीं करता ?

□ हे जीव ! तू अगर कल्याण चाहता है तो बाहरी रूप-रंग के प्रति जो तेरा ममत्व भाव है, रागद्वेष है, उसको त्याग दे । अपने अन्दर स्थित शुद्धात्मा को प्राप्त करने की चेष्टा कर । हे अज्ञानी जीव ! मनुष्य पर्याय में इसका त्याग नहीं करेगा तो किस पर्याय में करेगा ? अब तू इसे छोड़कर साधु के असली रूप को धारण कर । तभी तू तीन लोक में चमकेगा ।

□ हे योगी ! षट्रस के स्वाद को छोड़कर अनादिकाल से अपने अन्दर ही रहने वाली आत्मा के रस का स्वाद ले । तेरी आत्मा में अनन्त ज्ञानमय आनंदामृत के रस का भंडार भरा पड़ा है । तू आप अपने रस का स्वादी होकर बाहर की विषयवासना को उत्पन्न करने वाले रस को छोड़ ।

□ यह अज्ञानी जीव अनादिकाल से बार-बार पंचेन्द्रिय विषयभोग को भोगता आ रहा है । इस तरह विषयभोग में आसक्त होकर यह आत्मा मलिन बनकर निंद्य गति को प्राप्त होता है । जब तक यह जीव इन्द्रिय विषय में इस प्रकार फंसा रहेगा तब तक इस जीव को आत्मा के स्वरूप की पहचान नहीं होगी ।

□ जो सम्यग्दर्शन के सन्मुख हैं, वे अनन्त सुख को पाते हैं । जो जीव सम्यक्त्व रहित हैं वे यदि पुण्य भी करते हैं तो उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुण्य के फल से अल्प सुख को पाकर फिर संसार में अनन्त दुःख भोगते हैं। इसलिए तुझे पुण्य और पाप इन दोनों से भिन्न शुद्धात्मा स्वरूप का मनन करना ही योग्य है। उसी से तुझे तृप्ति होगी।

☐ आत्म-कल्याण को छोड़कर तू कहीं भी मत जा। जो अज्ञानी जीव निजभाव में लीन नहीं होते, वे सभी दुःखों को सहते हैं। यह आत्म-कल्याण, प्रत्यक्ष में, संसार सागर को तरने का उपाय है। तू शुद्धात्मा की भावना कर।

☐ हे जीव! तूने अनन्त भव प्राप्त कर पंचेन्द्रिय विषय रूपी शत्रु के लिए ही अपना जीवन बिता दिया। स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करने के लिए एक भव भी दान नहीं दे सकता? हे मनुष्य! इस भव को स्वर्ग और मोक्ष के लिए दान कर, जिससे तेरी जिन्दगी सुधर जाए।

☐ हे प्राणी! विचार कर कि पंचेन्द्रिय विषय को तू नहीं भोग रहा है परन्तु पंचेन्द्रिय विषय तुझको भोग रहे हैं। हमने भोग नहीं भोगे बल्कि भोगों ने हमको भोगा है। हमने तप नहीं तपे बल्कि हम ही तपे हैं। काल नहीं बीता बल्कि हम ही समाप्त हुए हैं। तृष्णा वृद्ध नहीं हुई बल्कि हम ही जर्जरित हो गए हैं।

☐ हे अज्ञानी जीव! आज तक तेरी समझ में नहीं आया कि तेरा स्वरूप ज्ञान, दर्शन, चैतन्य, अखण्ड, अविनाशी और अमूर्तिक है। जो पदार्थ तेरे सामने दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे जड़ हैं। तेरा और जड़ का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। दोनों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? तेरा रूप हमेशा ब्रह्म स्वरूप है। तू अपने में उत्पन्न हुए अनन्त ज्ञान रूपी रस को ग्रहण करने वाला है।

☐ जीव के अन्दर अशुभ, शुभ और शुद्ध तीन परिणाम होते हैं। अशुभ योग से पाप का बन्ध होता है और शुभ योग से पुण्य का। शुद्धोपयोग से पाप, पुण्य दोनों नष्ट होकर अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः तीनों योगों में से शुद्धोपयोग का ध्यान करना ही ज्ञानी योगी के लिए उचित है।

☐ अगर तुझे शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति करनी है तो मन को मार कर परब्रह्म का ध्यान कर। हे योगी! तेरी बुद्धि क्या खोटी है जो तू संसार के कल्याणरूप व्यवहार करता है। अब तू मायाजाल रूप पाखण्डों से रहित जो सिद्धात्मा है उसको जानकर विकल्प जालरूपी मन को मार।

☐ स्व-पर ज्ञान से आत्मा को पहचान कर उसी के अन्दर रत रहना तथा रुचि रखना ही सच्चा शास्त्र है। उसी तत्त्व के अन्दर रमण करके सच्चे निजात्म तत्त्व में रमण करना ही तपश्चर्या है। पर-वस्तु का सम्पर्क अपनी आत्मा से न होने देना ही दीक्षा है और गुरु ही यह दीक्षा देने वाले हैं।

☐ भेद-विज्ञान से ही आत्मध्यान की सिद्धि होती है। आत्मा से पुद्गलमय शरीरादि अलग हैं। निर्मल आत्मा को शुद्ध चैतन्यमय सिद्ध भगवान् के समान जानकर जो उसी आत्मिक तत्त्व में अपने उपयोग को स्थिर कर देता है, वह आत्मा आत्मध्यान करके आत्मा की सिद्धि कर सकता है। भेद-विज्ञान द्वारा जो सामायिक का अभ्यास करते हुए आत्मध्यान में लयता प्राप्त करते हैं वे ही सच्चे समाधि भाव को पाते हैं। आत्मा के जल सदृश निर्मल स्वभाव में अपने मन को डुबाना चाहिए। ॐ या सोऽहं मन्त्र का आश्रय लेकर बार-बार मन को आत्मरूपी नदी में डुबोने से मन की चंचलता मिटती है और वीतरागता का भाव बढ़ता जाता है। आत्म-ध्यान ही परोपकारी जहाज है। इसी पर चढ़कर भव्य जीव संसार से पार हो जाते हैं। अतः ज्ञानी को आत्मज्ञान का अभ्यास करना चाहिए।

☐ जिस प्रकार अमूर्त आकाश के ऊपर चित्र का निर्माण करना असम्भव है, उसी प्रकार अतीन्द्रिय आत्मा के विषय में कुछ वर्णन करना असम्भव है। जो उसका चिन्तन मात्र करता है उसका जीवन प्रशंसा के योग्य है। वह देवों के द्वारा भी पूजा जाता है। जो सर्वज्ञ देव संसार से पृथक् जीवन मुक्त होते हुए केवल ज्ञान रूप नेत्र को धारण करते हैं उन्होंने इस आत्मा के आराधन का उपाय एक-मात्र समता भाव बताया है।

☐ अखण्ड, अविनाशी, परम वीतराग, निर्विकल्प, आत्मानन्द सुखामृत अपने पास होते हुए भी यह जीव अपने आपको न समझकर पंचेन्द्रिय विषयों की ओर दौड़ता है। परद्रव्यों के द्वारा दुःखी हो सुख को बाहर ढूंढ रहा है।

☐ संसार में जितने रूपी पदार्थ हैं वे सब चेतनारहित हैं। तू शुद्ध चैतन्यज्ञान दर्शनपूर्ण है। अरूपी है। जड़ पदार्थ को तूने खुद पकड़ा हुआ है और तू अज्ञान अवस्था में पागल के समान "जड़ ने मुझको पकड़ा है—छुड़ाओ-छुड़ाओ" आदि चिल्लाता है। अनेक प्रकार के दुःख, संताप सहते हुए संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे जीव! तू अज्ञान दशा में जड़ के साथ सम्बन्ध करके जड़ के द्वारा ही दुःख पा रहा है। जैसे अग्नि लोहे की संगति से पीटी जाती है उसी तरह जड़ के संसर्ग से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुझे दुःख उठाना पड़ता है। तू जड़ वस्तु पर राग और मोह को त्याग। तब तू सुखी हो जाएगा और असली निजात्म तत्त्व की प्रतीति तुझे होगी।

☐ तत्त्व श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति की योग्यता से युक्त जीवों को ही भव्य जीव कहते हैं और जिसके अन्दर यह योग्यता नहीं है ऐसे जीवों को अभव्य कहते हैं। भव्य जीवों में ही मुक्ति की योग्यता है, अभव्यों में नहीं। भव्यजीवों के समुदाय को उस आत्मवस्तु की आराधना ही हितकारक होती है। उस आराधना से निर्बंध होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

☐ यह आत्मा अमूर्त्त स्वभाव होने से रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द संस्थानादिक पौद्गलिक भावों से रहित है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल—इन चार अमूर्त द्रव्यों से भी भिन्न है। स्वजीव सत्ता की अपेक्षा अन्य जीव द्रव्य से भी भिन्न है। आत्मा किसी पुद्गलिक चिह्न से ग्रहण नहीं किया जाता। यह आत्मा केवल अनुभवगम्य है, वचन से नहीं कहा जाता। कहने से अशुद्धता का प्रसंग आता है। इसलिए शुद्ध जीव द्रव्य ज्ञानगम्य है। जो अनुभवी हैं वे ही शांतरस के स्वाद को जानते हैं।

☐ बाह्य पर-वस्तु के विचार मात्र से मन चंचल होता है। उसी चंचलता के निमित्त से यह आत्मा बहिरात्मा होती है। वही अपने आत्मा को मलिन करने के लिए निमित्त कारण हो जाती है। जब भेद-विज्ञान होता है, तब उस भेद-विज्ञान के द्वारा विषय-वासना दूर होती है। इसलिए योगी के लिए अपनी सम्पूर्ण बाह्य इन्द्रियों को भेद-विज्ञान के द्वारा पर-पदार्थ से हटाकर अपनी आत्मा के अन्दर मनन करने को कहा गया है। जब तक अपनी आत्मा में रत नहीं होंगे तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि परद्रव्य का सम्बन्ध महा दुःख रूप है।

रत्नाकर-शतक

☐ श्री जिनेन्द्र भगवान् ने नित्य देव-पूजा, शुभकारी गुरु-वचन का श्रवण, सतपात्र को प्रतिदिन दान, निर्मल शील का पालन, अपनी शक्ति के अनुसार शुद्ध तप व आचरण करना—इस संसार में शुभ भावना रखने वाले श्रावक का यह पवित्र मोक्ष मार्ग स्वरूप धर्म कहा है। श्री सर्वज्ञ वीतराग भगवान् के पूजन में प्रेम, अत्यन्त उदार बुद्धि से तीर्थयात्रा में श्रद्धा, पाप कर्मों में वैराग्य, मुनियों की चरण-सेवा में अगाध भक्ति, दान में आसक्ति, समस्त मिथ्यात्व को दूर करने में सद्धर्म भावना, धर्म-कार्य में अनुरक्ति—ऐसे आचरण करने वाले श्रावक शीघ्र ही संसार-बन्धन से मुक्ति पाते हैं।

☐ गृहस्थ को औषध के समान विषयों का सेवन करना चाहिए। अधिक विषयों को भोगने से व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक नाना प्रकार की व्याधियाँ हो जाती हैं जिससे उसका जीवन कष्टमय बीतता है। इन्द्रिय-जय के समान संसार में अन्य कुछ भी सुखदायक नहीं है।

☐ प्रधानतः मनुष्य में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं— स्वाभाविक प्रवृत्ति और वैभाविक प्रवृत्ति। स्वाभाविक प्रवृत्तियों में प्रत्येक व्यक्ति के भीतर ज्ञान की मात्रा रहती है तथा वह व्रत समिति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चरित्र की ओर बढ़ता है। वह संसार के यथार्थ स्वरूप को सोचता है कि इसमें कितना दुःख है। कर्मों में किसी का साझा नहीं है और न कोई किसी का सहायक ही है। अन्य पदार्थों की तो बात ही क्या, यह शरीर भी सहायता नहीं कर सकता। सांसारिक कष्टों को अपनी आत्मा से भिन्न समझ कर जो आत्म-स्वरूप में स्थित होता है, वह रत्नत्रय को प्राप्त कर लेता है। उसकी प्रत्येक क्रिया रत्नत्रय को पुष्ट करने वाली होती है।

अनात्मा की ओर ले जाने वाले क्रोध, माया, लोभ रूप कषाय तथा प्रमाद के कारण जीव की वैभाविक प्रवृत्ति होती है। वैभाविक प्रवृत्ति वाला मनुष्य शरीर को ही आत्मा समझता है जिससे उसका प्रत्येक व्यवहार शरीराश्रित होने के कारण आत्मा के स्वभाव से विपरीत पड़ता है। जो व्यक्ति शरीर को अपना समझता है उसे प्रत्येक क्षण दुःख का अनुभव होता है। दुनिया के भौतिक पदार्थों का सम्बन्ध शरीर के साथ है आत्मा के साथ नहीं।

☐ इन्द्रिय भोग असंयमी जीवों को प्रिय मालूम होते हैं पर संयमी व्यक्तियों को उनमें रस नहीं मिलता। वे इनको देखकर उदासीन वृत्ति धारण कर लेते हैं। उनकी अन्तरात्मा संयम के महत्त्व को अच्छी तरह जान लेती है, अतः इन्द्रियों पर वे नियंत्रण करते हैं। महापुरुषों के जीवन की सबसे बड़ी महत्ता जो उनको आगे बढ़ाती है वह है विवेक और इन्द्रिय-नियंत्रण।

☐ जितने भी महान् पुरुष, तीर्थंकर आदि हो गये हैं उनकी स्तुति करने से, अच्छे-अच्छे छन्दों में रचना करके गाने से मन की निर्मलता होती है और सुनने वाले के मन में भी निर्मलता आती है। इससे कर्म की निर्जरा होती है।

☐ ज्ञान की बड़ी महत्ता है। ज्ञान के समान संसार में और कुछ भी सुखदायक नहीं है। ज्ञान के बल से ही मनुष्य निर्वाण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद को प्राप्त करता है। ज्ञान के कारण ही जीव करोड़ों जन्मों से अर्जित कर्मों को क्षण भर में त्रिगुप्तियों के द्वारा नष्ट कर देता है।

☐ मोह ने इस जीव को पागल बना दिया है। मोह के दूर होते ही इस जीव को शरीर और भोगों से घृणा हो जाती है। उसके मन में वैराग्य की भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। संसार और शरीर दोनों की वास्तविकता दिखलायी पड़ने लगती है। वह शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न देखने लगता है।

☐ कल्याण-प्राप्ति के मूलतः दो ही मार्ग हैं—आचार और विचार की शुद्धि। इन दोनों का प्रायः तादात्म्य सम्बन्ध है। आचार की शुद्धता से विचारों में शुद्धता आती है और विचार की शुद्धता से आचार में। जो व्यक्ति इन दोनों का सम्बन्ध नहीं समझते वे ग़लत मार्ग पर हैं। नर-भव की सार्थकता राग-रंगों को पाकर भी इनसे अनासक्त रहने में है। अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार श्रद्धा-पूर्वक निवृत्ति मार्ग की ओर जाना, संसार के चमकीले-भड़कीले पर-पदार्थों से पृथक् रहने की चेष्टा करना ही कल्याणकारक है। जिन व्यक्तियों के विचार शुद्ध हैं, जिनकी प्रवृत्ति राग-द्वेष से परे रहती है वे अपने आचरण को उन्नत बना लेते हैं। उनकी दृष्टि विशाल हो जाती है। स्वार्थ की संकुचित सीमा टूट जाती है जिससे पर-पदार्थों के प्रति व्यग्रता नहीं होती।

☐ विद्वान् और राजा दोनों को एक-सा नहीं कह सकते क्योंकि राजा केवल अपने देश में ही पूजनीय होता है, किन्तु विद्या-वान् तो चाहे किसी भी देश में चला जाए वहां उसका पूजा-सत्कार होता है। इस विद्या रूपी धन को जितना खर्चोगे उतना ही बढ़ेगा। यह विद्या रूपी वह गुप्त धन है जिसको चोर नहीं चुरा सकता, राजा नहीं छीन सकता, भाई-बन्धु बँटवा नहीं सकते। विद्या वह धन है जो कामधेनु तथा कल्पवृक्ष के समान है। इसका जो कोई संचय करेगा, उसको दिनों-दिन अधिक सुख मिलेगा। जिसके पास यह धन है उसका चित्त हर समय प्रसन्न बना रहेगा, चिन्ता तो उसके पास फटकने भी नहीं पायेगी। जितना भी इसको खर्चोगे, उससे भी कहीं हजारों लाखों गुणी अधिक बढ़ेगी।

☐ शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर शान्ति और सहिष्णुता को धारण करना, अहंकार से रहित होना, धार्मिक बनना, मृदु बातें करना, मोक्ष-चिन्ता तथा स्वात्म-चिन्ता में निरत रहना श्रेष्ठ कर्तव्य है। जो व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर अपना कल्याण नहीं करता, विषयों के अधीन रहता है, उसे धिक्कार है। उस व्यक्ति का ज्ञान शास्त्रीय ज्ञान नहीं कहलाता बल्कि शस्त्र-ज्ञान कहलाता है। सदाचार के बिना ज्ञान बोझ के समान है। ज्ञान का एक मात्र ध्येय आत्मोन्नति करना है, अपने आचरण का विकास करना है। किन्तु जहाँ स्वपर का विवेक नहीं होता भेद-विज्ञान की प्राप्ति नहीं होती वह ज्ञान कोरा ज्ञान ही है। उसके रहते हुए भी जीव अज्ञानी के समान है। सम्यग्ज्ञानी ही संसार के पदार्थों को जानते हुए उदासीन रहता है। यद्यपि ज्ञान का कार्य पदार्थों को जानना है, पर सम्यग्ज्ञानी जानकर भी उनमें अनुरक्त नहीं होता।

☐ आशा एक नदी है। इसमें इच्छा रूपी जल है। तृष्णा इस नदी की तरंगें हैं। प्रीति इसके मगर हैं। तर्क-वितर्क या दलीलें इसके पक्षी हैं। मोह इसकी भंवर। चिन्ता ही इसके किनारे हैं। यह आशा नदी धैर्य रूपी वृक्ष को गिराने वाली है। इस कारण इससे पार होना बड़ा कठिन है। जो शुद्धचित्त योगी-मुनि इसके पार चले जाते हैं, वे असीम आनन्द प्राप्त करते हैं।

☐ योग के कारण आत्मा की शक्तियों का विकास होता है। इन्द्रिय और मन का निग्रह होने के कारण आत्मा की छिपी हुई शक्तियों का आविर्भाव हो जाता है। आत्मा का चिन्तन योगी सरलता से कर सकता है। वह अपने प्रयत्न द्वारा मन, वचन और कर्म की असत् प्रवृत्तियों के साथ-साथ सत्प्रवृत्तियों पर भी अपना नियंत्रण कर लेता है।

☐ मनुष्य का यह स्वभाव है कि उसे जितनी अपनी प्रशंसा प्रिय होती है उतनी अन्य व्यक्ति की नहीं। यह तो उसकी कमजोरी है। जिसकी आत्मा में शक्ति उद्बुद्ध हो जाती है उसका यह संकुचित दायरा नहीं रहता। उसे गुणी मनुष्य के गुण प्रिय होते हैं। गुणों की प्रशंसा सुनकर उसके मन में हर्ष होता है।

☐ जन्म-जन्मान्तर के कर्मों का फल प्रत्येक व्यक्ति को भोगना पड़ता है। प्रधानतः कर्म दो प्रकार के होते हैं—पुण्य कर्म और पाप कर्म। पुण्य कर्म के उदय से व्यक्ति को नाना प्रकार की सुख-सामग्री मिलती है और पाप कर्मों के उदय से दुःख सामग्री।

☐ प्रभु भक्ति करने से संसार से वैराग्य हो जाता है। उसे कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान हो जाता है। प्रतिदिन भगवान् के दर्शन करने से आत्मा में अपूर्व शक्ति आ जाती है। वह किसी भी असम्भव कार्य को कर सकता है। नाना प्रकार की विपत्तियां आने पर भी कार्य से डिगता नहीं। उसे प्रभु भक्ति में अपूर्व रस और आनंद आता है। वह समस्त संसार के भोगों में नीरसता का अनुभव करने लगता है।

☐ आत्मा का गुरु निश्चय रूप से आत्मा ही है; क्योंकि अपने भीतर स्वयं हित की लालसा उत्पन्न होती है तथा स्वयं अपने को ही मोक्ष का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। अपने को ही अपने हित के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। जो स्वयं पुरुषार्थ नहीं करते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्हें मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। संसार के सभी पदार्थ क्षणभंगुर हैं। इनकी अनित्यता को देख कर भगवान् की भक्ति करना तथा ध्यान और तपश्चरण द्वारा कर्म-कालिमा को पृथक् करना आवश्यक है।

☐ सबसे पहले जीव को इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए। क्रोध, मान, माया और लोभ कषायों को भी आत्मा में उत्पन्न न होने देना चाहिए। निमित्त मिलने पर भी जो इन कषायों को नहीं उत्पन्न होने देते वे ही वीर हैं; आत्मा के सच्चे कल्याण-कारी हैं।

☐ सत्पात्र के प्रति दान में अपनी लक्ष्मी का उपयोग धर्मात्मा लोग करते हैं। इसलिए वह पवित्र द्रव्य सदाचार को उत्पन्न करता है; नम्रता को बढ़ाता है; ज्ञान की उन्नति करता है; पुरुषार्थ उत्पन्न करता है; शास्त्र-ज्ञान प्रबल करता है; पुण्य का संचय करता है, पाप का नाश करता है। अतः सत्पात्र को नियम से दान देना चाहिए।

☐ जो व्यक्ति वर्तमान में दुःखी है, उसके लिए भी धर्म परम सुखदायक है। धर्म-सेवन के लिए धन की आवश्यकता नहीं है। बिना धन के भी धर्माचरण किया जा सकता है। क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय को मन्द करना, दया धर्म का अनुसरण करना, अभिमानवश किसी भी व्यक्ति को बुरे वचन न कहना, हितमित-प्रिय वचनों का व्यवहार करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपकारी है।

☐ जो मनुष्य पुण्य संचय के लिए सत्पात्र को सक्रिय द्रव्य देता है उसको सम्पत्ति प्राप्त होती है। सद्बुद्धि उसे ढूंढ़ती है, कीर्ति उसकी तरफ देखती है। प्रीति चुम्बन करती है। सौभाग्य उसकी सेवा करता है। आरोग्य उसका आलिंगन करता है। सुख की प्राप्ति होती है। स्वर्ग की सम्पत्ति उसका वरण करती है।

☐ धर्म कल्पवृक्ष के समान अचिन्त्य फल ही नहीं देता अपितु उससे भी अधिक देता है। कल्पवृक्ष से फल पाने के लिए तो मन में संकल्प करना पड़ता है पर धर्म के लिए यह बात नहीं है। यह तो स्वयं जीव को सुख प्रदान करता है। धर्म-सेवन द्वारा दुष्कर कार्य भी सुखकर हो जाते हैं।

☐ गृहस्थाश्रम में रह कर सांसारिक सुखों को भोगते हुए भी जीव पुण्य बंध कर सकता है। अपनी आत्मा का उत्थान कर सकता है। आत्मकल्याण के लिए बिना घर छोड़े भी अभ्यासवश कषाय मन्द की जा सकती है। इन्द्रियजयी व्यक्ति भी कषायों को मन्द करता है। अतएव पुण्यार्जन के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

☐ हे प्रभो! आपकी स्तुति और पूजा की तो बात ही क्या है। वह रागादि समस्त दोषों को दूर करने वाली है। आपके नाम मात्र से ही जीवों के पाप नष्ट हो जाते हैं। आपके नाम तथा गुणों के स्मरण करने से वह शक्ति आ जाती है जिससे समस्त पाप-कालिमा दूर हो जाती है, पुण्य का संचय हो जाता है और आत्मानुभूति जागृत हो जाती है।

☐ मिथ्याज्ञान के रहने से जीव की जो प्रवृत्ति होती है वह मिथ्या चारित्र कहलाती है। मिथ्यादर्शन के कारण यह जीव पर को अपना मानता है तथा पर में ही प्रवृत्ति करता है। आत्मा के निज गुणों में इस जीव की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः प्रत्येक व्यक्ति को विषय-वासनाओं की ओर से अपनी प्रवृत्ति को हटाकर आत्मा की ओर लगाना चाहिए। तभी आत्मा का कल्याण हो सकेगा।

☐ शास्त्र और काव्य ऐसा होना चाहिए जिससे इनके अध्ययन द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपने आचरण को उन्नत कर सके तथा मनोबल, वचन बल व कायबल को दृढ़ कर सके। सदाचार की नींव ये तीनों बल हैं। मन के सबल होने से बुरे संकल्प मन में उत्पन्न नहीं होते, विचार शुद्ध रहते हैं तथा हृदय में निरन्तर शुद्ध भावनाएं उत्पन्न होती हैं। हृदय के स्वच्छ हो जाने से वचन भी बुरे नहीं निकलते। वचन शक्ति इतनी सबल हो जाती है कि सत्य के सिवाय मिथ्या वाणी कभी मुख से नहीं निकलती। संसार का सबसे बड़ा पाप मन की निर्बलता से होता है। जिसका मन निर्बल है वह डरपोक होता है, भय और आशंका सर्वदा उसके सामने रहती है। सबल मस्तिष्क में अशुद्ध विचार उत्पन्न नहीं हो सकते। कमजोर हृदय के व्यक्ति जल्दी पाप करने पर उतारू हो जाते हैं। अतः निर्भय बनना और सत्य बोलना मनुष्य का परम कर्तव्य है।

☐ प्रातःकाल उठकर भगवान् जिनेन्द्रदेव के गुणों का स्तवन करना चाहिए। स्तवन के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति को विचारना चाहिए कि मैं कौन हूं? मेरा कर्तव्य क्या है? क्या मेरा धर्म है? मुझे क्या करना है? मैं क्या कर रहा हूं? अब तक मैंने क्या किया है? आदि। इन बातों के सोचने से मनुष्य के मन में कल्याण करने की प्रेरणा जाग्रत होती है। भक्ति में बड़ा भारी आकर्षण होता है। यद्यपि वह हृदय की रागात्मक वृत्ति है फिर भी इसमें जन्म-जन्मान्तरों के संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। भगवान् के पवित्र गुणों का स्मरण करने से आत्मा में निजानुभूति की शक्ति आती है जिससे पर-पदार्थों से ममत्व बुद्धि दूर हो जाती है।

☐ गृहस्थ अवस्था में रहकर भी मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है। घर में रहते हुए भी जो सर्वथा अनासक्त होकर कार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है, जिसे फल की आकांक्षा नहीं और जो परिणाम के बुरे या अच्छे होने से भी विचलित नहीं होता है तथा कार्य करना ही जिसके जीवन का लक्ष्य रहता है और जो निरन्तर कर्तव्य को ही अपना सब कुछ मानता है, ऐसा व्यक्ति घर में रहता हुआ भी संन्यासी है।

☐ मनुष्य को शरीर और धन की आशा जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे मोह की गांठ मजबूत होती जाती है। संसारी जीवों के लिए आशा इन्द्रियों को उन्मत्त करने वाली मदिरा है, विषय-विष बढ़ाने वाली लता है। समस्त दुःखों का एकमात्र कारण यह आशा है। संसार में आशा को दूर करने पर ही कोई सुखी हो सकता है।

☐ प्रत्येक व्यक्ति को दान अवश्य करना चाहिए, इससे जीवन में मोह कम हो जाता है, भावनाएँ परिष्कृत और विशुद्ध हो जाती हैं, व्यक्ति स्वार्थ के संकुचित दायरे से हटकर परोपकार के विस्तृत क्षेत्र में पहुंच जाता है। स्वाध्याय करना तो मानव-जीवन के लिये बहुत ही आवश्यक है। जो प्रतिदिन ज्ञानार्जन करता है, वह संसार के विषयों की भयंकरता से बच सकता है। स्वाध्याय सबसे बड़ा तप है। स्वाध्याय करने से भावनाएँ पवित्र बनी रहती हैं, मन में एकाग्रता आती है, विषयों से अरुचि उत्पन्न होती है तथा भौतिकता निस्सार प्रतीत होती है।

☐ ज्ञान के समान संसार में कोई बड़ा पदार्थ नहीं है क्योंकि ज्ञान ही लोक-परलोक और आत्मा-परमात्मा का यथार्थ स्वरूप अवगत कराता है। सच्चे ज्ञान का एक कण भी इस जीव के लिए महान् उपकारी हो सकता है। महापुरुषों ने स्वाध्याय को संसार-सागर से पार उतरने के लिए नौका बताया है। स्वाध्याय का रस आ जाने पर सारी आकुलता दूर हो जाती है। वस्तु का यथार्थ मर्म मालूम हो जाता है। अनादिकाल से चली आयी कर्म-कालिमा दूर हो जाती है।

☐ पूजा दो प्रकार की होती है—द्रव्य पूजा, भाव पूजा। शुद्ध लक्ष्य से जो भगवान् का पूजन किया जाता है वह द्रव्य पूजा (अष्ट द्रव्य) कहलाती है। यह द्रव्य पूजा भाव के लिए कारण होती है। द्रव्य पूजा के लिये गृहस्थ अधिकारी है और भाव पूजा के मुनिजन। अष्ट द्रव्यों से पूजा करना द्रव्य पूजा है और बिना द्रव्यों के स्तोत्र पढ़ना एवं भगवान् के गुणों का चिन्तन करना भाव पूजा है।

☐ वीतरागी प्रभु तो पूजा से न सन्तुष्ट होते हैं और न निन्दा से असन्तुष्ट। परन्तु पूजक और निन्दक को अपनी करनी का फल अवश्य मिल जाता है। भावनाएँ विशुद्ध या अपवित्र जैसी भी रहती हैं कर्मों का बन्ध भी वैसा ही होता है।

☐ संसार-सागर को पार करने का सहज उपाय भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा ही है। भगवान् की पूजा करने से सम्यग्दर्शन गुण तो विशुद्ध होता ही है, साथ ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भी प्राप्ति होती है। पूजा करना, दर्शन करना, स्तोत्र पढ़ना प्रत्येक श्रावक का दैनिक कर्तव्य है। कोई भी व्यक्ति भगवान् की पूजा कर अपनी भावनाओं को आसानी से पवित्र कर सकता है। मन को वश में करने के लिए तथा विषयों का त्याग करने के लिए पूजा बड़ी ही सहायक है। इसके द्वारा मन को स्थिर कर भीतर के मोह को जीता जा सकता है, और आत्मानुभूति को प्राप्त किया जा सकता है।

☐ स्वावलम्बन-प्राप्ति के लिए आचार्य ने तीन बातें बतलायी हैं—(१) सहिष्णु होना—पर द्रव्य को दूर करने के लिए कष्टसहिष्णु बनना। तपश्चर्या, उपवास आदि के द्वारा अपना शोधन करना, जिससे कषाय उत्पन्न न होने पावे। सहिष्णु व्यक्ति अपने मार्ग में कभी असफल नहीं होता है। (२) संयम—इसके द्वारा इंद्रिय और मन को वश कर विकार और कषायों से अपनी रक्षा की जाती है। संयम के ही द्वारा जीव रत्नत्रय मार्ग का अवलम्बन करने में समर्थ हो सकता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों को नियंत्रित करना भी संयम के भीतर परिगणित है। राग भाव संयमी के हृदय से बिल्कुल हट जाता है। (३) रत्नत्रय मार्ग का अनुसरण करना—जब यह विश्वास हृदय में उत्पन्न हो जाय कि मैं स्वतन्त्र द्रव्य हूं, मेरा सम्बन्ध इन पर-वस्तुओं से बिल्कुल नहीं है, अतः मेरा प्रत्येक प्रयत्न अपसे स्वरूप की प्राप्ति के लिये है।

☐ जैसे अग्नि में ईंधन डालने से अग्नि बढ़ती जाती है वैसे ही तृष्णावान् प्राणी कितना भी भोग करे परन्तु उसकी तृप्ति कभी नहीं हो सकती। तृष्णा का रोग बढ़ता जाता है। तृष्णा का रोग जिससे मिटता है वह दवा है—एक शान्त रसमय निज आत्मा का ध्यान, जिससे स्वाधीन आनन्द जितना मिलता जाता है, उतना ही विषय भोगों का रोग घटता जाता है। अतएव इन्द्रिय सुख की आशा छोड़कर अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का उद्यम करना चाहिये।

☐ वासनाएँ जितनी अधिक बढ़ती जाती हैं जीव को उतनी ही अधिक अशान्ति का सामना करना पड़ता है। वास्तव में शान्ति त्याग रूप में ही मिलती है। क्योंकि पर-वस्तुओं की ममता जितने अंश में रहती है जीव को अशान्ति उतने ही अंश में अधिक मिलती है। धन और कामिनी जीव को स्वावलम्बी बनने में सबसे बड़े बाधक हैं। आत्मा की अपार शक्ति का विकास इस मदन ज्वर के दूर करने पर ही होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

☐ सुख और शान्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब जीव अपने यथार्थ स्वरूप को अवगत कर ले। पराधीनता भी अशान्ति का दूसरा नाम है तथा इसकी उत्पत्ति भी विकार और कषायों से होती है। जब तक जीव विकारग्रस्त रहता है तब तक वह अपने चारों ओर अशान्ति ही अशान्ति देखता है। विकारों की प्रचुरता ही जीव को राग और द्वेष-बुद्धि की ओर अग्रसर करती है जिससे वह शत्रुता और मित्रता की कल्पना करता है। अतएव जीव का हित विकारों को दूर करने में ही है।

☐ आत्मचिन्तन से मन पवित्र हो जाता है, गन्दे और बुरे विचार रुक जाते हैं तथा धीरे-धीरे ज्ञानानन्दमय स्वभाव की प्राप्ति हो जाती है। विषयाधीन रहने वाले मन और शरीर स्वतन्त्र हो जाते हैं। विषय-वासना के न होने से ज्ञानाभ्यास, विषय-व्याकुलता हटने से शान्ति ; अनशनादि तपों के करने से शरीर से ममत्वबुद्धि का त्याग तथा स्व की पहिचान ; त्रिकाल सामायिक करने से आत्मानुभूति; ईर्यापथ शुद्धि के पालने से समताबुद्धि एवं मन-वचन-काय को आधीन करने से विश्व-बन्धुत्व तथा स्वावलम्बन की प्रवृत्ति होती है। अतः योगीश्वर अपने आत्मकल्याण में प्रवृत्त होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। वह इस मनुष्य जीवन को व्यर्थ नहीं खोता।

☐ जीव का कल्याण अपने स्वरूप में अवस्थित होने पर ही हो सकता है। राग-द्वेष और मोह के निकलने पर ही जीव में साम्यभाव आ सकता है। साम्यभाव के आ जाने से आशाएँ, आकांक्षाएँ तत्काल दूर हो जाती हैं तथा चंचल मन जो सर्प के समान सर्वत्र विचरण करता है, शान्त हो जाता है। संसार और विषयभोगों से विरक्ति, शारीरिक आवश्यकताओं से आसक्ति एवं विकार और कषायों की पूर्ति करने की वांछा साम्यभावना के द्वारा ही दूर की जा सकती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को विकार और कषायों को जीतने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। इनके जीते बिना आत्मोत्थान के मार्ग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

☐ आत्मानन्द का पान करने से अद्भुत तृप्ति होती है तथा ध्यान करने की शक्ति भी आती है। जो प्रारंभिक साधना करना चाहते हैं उन्हें तो केवल एकान्त में बैठकर कुछ समय तक आत्मानन्द का पान करने का अभ्यास करना चाहिये तथा अपने को सभी द्रव्यों से स्वतन्त्र अनुभव करना चाहिए।

☐ णमोकार मन्त्र के ध्यान से समस्त पाप दूर हो जाते हैं। आत्मा पवित्र हो जाती है। इस मन्त्र में ऐसी विचित्र शक्ति है कि संसार का बड़े से बड़ा काम इसके स्मरण मात्र से सिद्ध हो जाता है। जो व्यक्ति भावपूर्वक प्रतिदिन इस मन्त्र का जाप करते हैं उनको ऐहिक सुखों के साथ पारलौकिक सुख भी प्राप्त होते हैं। संसार का परिभ्रमण चक्र इससे समाप्त होता है और आत्मस्वतन्त्रता की प्रेरणा होती है।

☐ कमल के डंठल में नीचे से लेकर ऊपर तक जिस प्रकार निर्मल तन्तु सर्वांगीण रूप से व्याप्त रहते हैं उसी प्रकार मनुष्य के अंगूठे से लेकर मस्तक तक समस्त शरीर में आत्मा व्याप्त है। शरीर का कोई भी भाग ऐसा नहीं है जिसमें आत्मा न हो। यह आत्मा अखण्ड, अविनाशी, निराकार, चिदानन्द स्वरूप है।

☐ मनुष्य की आत्मा स्फटिक मणि के समान निर्मल है। अनादि कर्म-कालिमा के कारण यह आत्मा अशुद्ध हो रही है तथा नाना प्रकार के शरीरों को इसे धारण करना पड़ता है। इस आत्मा का कोई रूप-रंग नहीं है और न इसकी कोई जाति है। यह तो स्वभाव से निराकार है। इसमें शरीर के निमित्त से भेद किये जाते हैं। जैसे शरीर के आवरण में यह रहती है, इसका व्यवहार भी वैसा ही हो जाता है।

☐ जो आत्मध्यान करना चाहे उसको तप का प्रेमी होना चाहिये। सांसारिक विषयों की कामनाएँ न कर निज सुख के रमण का प्रेमी होना चाहिये। ध्यान के अभ्यासी को शास्त्रों का ज्ञान व उनका निरन्तर मनन करना चाहिये। जितना साफ व अधिक तत्त्वों का ज्ञान होगा, उतना ही अधिक निर्मल ध्यान का अभ्यास होगा।

☐ समस्त कर्मों का नाश कर मोक्ष की प्राप्ति होती है। गृहस्थावस्था में रहकर कोई भी व्यक्ति मोक्षप्राप्ति के लिये तैयारी कर सकता है। भेद-विज्ञान द्वारा अपने स्वरूप का विचार करना तथा निरन्तर आत्मद्रव्य को संसार के समस्त पदार्थों से भिन्न अलौकिक शक्तिधारी सोचना और तदनुकूल आचरण करना ही गृहस्थावस्था का पुरुषार्थ है। शरीर और भोगों से परम उदासीनता धारण करना एवं परिणामों में विरक्ति लाना गृहस्थ जीवन में स्वतन्त्रता प्राप्ति के साधन हैं।

☐ संसार के सभी प्राणी सुख चाहते हैं। इस सुख के लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। परन्तु यह सुख तब तक नहीं प्राप्त हो सकता जब तक जीव सुखबाधक अनिष्ट कर्म को नष्ट न कर दे। अनिष्ट कर्मों का नाश एकमात्र सच्चे चारित्र ज्ञान से प्राप्त होता है। जब कोई भी व्यक्ति अपने स्वरूप का विश्वास कर लेता है ; अपनी आत्मा को संसार के पदार्थों से भिन्न और स्वतन्त्र अनुभव करता है, उस समय उसे अपूर्व शान्ति मिलती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

☐ वृक्ष का आश्रय लेने वाले को न मांगने पर भी छाया मिलती है। वीतराग देव! आपकी स्तुति से भी अयाचित फल की प्राप्ति होती है। आप स्वयं किसी को कुछ देते भी नहीं और ग्रहण भी नहीं करते। परन्तु जो आपका आश्रय लेता है, उसको स्वयमेव फल मिल जाता है।

☐ जो भव्य प्राणी भक्ति से जिन भगवान् का दर्शन, पूजन और स्तुति किया करते हैं वे तीनों लोकों में स्वयं ही दर्शन, पूजन और स्तुति के योग्य बन जाते हैं।

☐ गुरु की प्रसन्नता से वह केवलज्ञान रूपी नेत्र प्राप्त होता है जिसके द्वारा समस्त जगत् हाथ की रेखा के समान स्पष्ट देखा जाता है।

☐ जिन गृहस्थों का हृदय जिनागम का अभ्यास करने के कारण दया से ओत-प्रोत हो चुका है, वे ही गृहस्थ वास्तव में धर्मात्मा हैं।

☐ जिस प्रकार फूलों के हारों की लड़ियाँ धागे के आश्रय से स्थिर रहती हैं उसी प्रकार समस्त गुणों का समुदाय प्राणी-दया के आश्रय से स्थिर रहता है। निर्दयी मनुष्य के वे सब गुण भी दया के अभाव में बिखर जाते हैं। अतएव सम्यग्दर्शनादि गुणों के अभिलाषी श्रावक को प्राणियों के विषय में दयालु अवश्य होना चाहिये।

☐ प्राणियों के शरीर आदि सब नश्वर हैं। इसलिए उक्त शरीर आदि के नष्ट हो जाने पर भी शोक नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह शोक पाप-बन्ध का कारण है।

☐ जिस प्रकार छिद्रयुक्त नाव घूमकर उक्त छिद्र के द्वारा जल को ग्रहण करती हुई अन्त में समुद्र में डूबकर अपने को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार यह जीव भी संसार में परिभ्रमण करता हुआ मिथ्यात्वादि के द्वारा कर्मों का आस्रव करके इसी दुःखमय संसार में घूमता रहता है। तात्पर्य यह है कि दुःख का कारण यह कर्मों का आस्रव ही है, अतः उसे छोड़ना चाहिये।

☐ उन्नत बुद्धि के धारक भव्य जीवों को पढ़ने के लिए भक्तिपूर्वक पुस्तक का जो दान किया जाता है इसे विद्वज्जन श्रुतदान (ज्ञानदान) कहते हैं। इस ज्ञानदान के सिद्ध हो जाने पर कुछ थोड़े-से ही भवों में मनुष्य उस केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व साक्षात् देखा जाता है।

☐ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र से विभूषित पुरुष यदि तप आदि अन्य गुणों में मन्द भी हो तो भी वह सिद्धि का पात्र है। किन्तु इसके विपरीत यदि रत्नत्रय से रहित पुरुष अन्य गुणों में महान् भी हो तो भी वह सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। मार्ग से परिचित व्यक्ति यदि चलने में मन्द भी हो तो वह धीरे-धीरे चलकर अभीष्ट स्थान में पहुंच जाता है। इसके विपरीत अन्य व्यक्ति जो मार्ग से अपरिचित है वह चलने में शीघ्रगामी होकर भी अभीष्ट स्थान को नहीं प्राप्त हो सकता।

☐ समवशरण में चारों प्रकार के देव और देवांगना, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि सभी प्रकार के प्राणी भगवान् के मंगलमय उपदेश को सुनने के लिये एकत्रित होते हैं। समवशरण में भगवान् ऐसे मालूम होते हैं कि चारों तरफ देखने वाले स्त्री-पुरुष सभी यह समझते हैं कि भगवान् मेरी तरफ देख रहे हैं। जहां पर भगवान् का समवशरण होता है उसके चारों तरफ सुकाल हो जाता है। वह ज्ञान-प्रचार की ऐसी सभा है जिसमें प्राणीमात्र आकर सुख-शान्ति का अनुभव करते हैं और अपने जन्म को सफल बनाकर मोक्ष के मार्ग में लगते हैं।

शास्त्रसार समुच्चय

☐ जिस व्यक्ति की ऐसी प्रबल शुभ भावना हो कि "मैं समस्त जगतवर्ती जीवों का उद्धार करूं, समस्त जीवों को संसार से छुड़ाकर मुक्त कर दूं" उस किसी एक बिरले मनुष्य के उपर्युक्त दशा में निम्नलिखित सोलह भावनाओं के निमित्त से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है—

१. दर्शन विशुद्धि, २. विनय संपन्नता, ३. अतिचार रहित शीलव्रत, ४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, ५. संवेग, ६. शक्ति अनुसार त्याग, ७. शक्ति अनुसार तप, ८. साधु समाधि, ९. वैय्यावृत्तिकरण, १०. अरहंत भक्ति, ११. आचार्य भक्ति, १२. बहुश्रुत भक्ति, १३. प्रवचन भक्ति, १४. आवश्यक अपरिहारिण, १५. मार्ग प्रभावना, १६. प्रवचन वात्सल्य।

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनूपगूहन, अस्थितिकरण, अप्रभावना, अवात्सल्य ये आठ दोष, कुलमद, जातिमद, बलमद, ज्ञानमद, तपमद, रूपमद, धनमद, अधिकारमद ये आठ मद, देवमूढता, गुरुमूढता, लोकमूढता ये मूढताएं हैं तथा छः अनायतन, कुगुरु, कुगुरु भक्ति, कुदेव, कुदेव भक्ति, कुधर्म, कुधर्म सेवक ऐसे सम्यग्दर्शन के ये पच्चीस दोष हैं। इन दोषों से रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का होना दर्शनविशुद्धि भावना है। देव, शास्त्र, गुरु तथा रत्नत्रय का हृदय से सम्मान करना, विनय करना, विनय-सम्पन्नता है। व्रतों तथा व्रतों के रक्षक नियमों (शीलों) में अतिचार रहित होना निःशीलव्रत भावना है। सदा ज्ञान-अभ्यास में लगे रहना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। धर्म और धर्म के फल से अनुराग रखना संवेग भावना है। अपनी शक्ति को न छोड़कर अन्तरंग बहिरंग तप करना शक्तितपस्त्याग है। अपनी शक्ति के अनुसार आहार, अभय, औषध और ज्ञान दान करना शक्तितप है। साधुओं का उपसर्ग दूर करना, अथवा समाधि सहित वीर मरण करना साधु समाधि है। व्रती त्यागी साधर्मी की सेवा करना, दुःखी का दुःख दूर करना वैय्यावृत्तिकरण है। अरहंत भगवान् की भक्ति करना अरहंत-भक्ति है। मुनि संघ के नायक आचार्य की भक्ति करना आचार्य भक्ति है। उपाध्याय परमेष्ठि की भक्ति करना बहुश्रुत-भक्ति है। जिनवाणी की भक्ति करना प्रवचन-भक्ति है। छह आवश्यक कर्मों को सावधानी से पालन करना आवश्यक अपरिहाणि है। जैनधर्म का प्रभाव फैलाना मार्ग प्रभावना है। साधर्मीजन से अगाध प्रेम करना प्रवचन वात्सल्य है। इन सोलह भावनाओं में से दर्शन विशुद्धि भावना का होना परमावश्यक है। दर्शन विशुद्धि के साथ कोई भी एक, दो, तीन, चार आदि भावना हों या सभी भावना हों तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है।

☐ दशविध वा सम्यग्दर्शन १० प्रकार का है—(१) आज्ञा सम्यक्त्व, (२) मार्ग सम्यक्त्व, (३) उपदेश सम्यक्त्व, (४) सूत्र सम्यक्त्व, (५) बीज सम्यक्त्व, (६) संक्षेप सम्यक्त्व, (७) विस्तार सम्यक्त्व, (८) अथ सम्यक्त्व, (९) अवगाढ़ सम्यक्त्व, (१०) परमावगाढ़ सम्यक्त्व।

जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का श्रद्धान करने से जो सम्यग्दर्शन होता है वह आज्ञा सम्यक्त्व है। जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रदर्शित मुक्ति मार्ग ही यथार्थ है ऐसे अचल श्रद्धान से जो सम्यक्त्व होता है वह मार्ग सम्यक्त्व है। निर्ग्रन्थ मुनि के उपदेश को सुनकर जो आत्म-रुचि होकर सम्यग्दर्शन होता है वह उपदेश सम्यक्त्व है। सिद्धान्त सूत्र सुनने के पश्चात् जो सम्यक्त्व होता है वह सूत्र सम्यक्त्व है। बीज पद सुनकर जो सम्यक्त्व होता है वह बीज सम्यक्त्व है। संक्षेप से तात्त्विक विवेचन सुन कर जो सम्यग्दर्शन होता है वह संक्षेप सम्यक्त्व है। विस्तार के साथ तत्त्व विवेचन सुनने के बाद जो सम्यक्त्व होता है वह विस्तार सम्यक्त्व है। आगम का अर्थ सुनकर जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह अर्थ सम्यक्त्व है। द्वादशांगवेत्ता श्रुतकेवली के जो सम्यक्त्व होता है उसे अवगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं। केवल ज्ञानी का सम्यक्त्व परमावगाढ़ सम्यक्त्व है।

☐ मायाचार, छलकपट, वचनवक्रता आदि रखकर जो मनुष्य जैन धर्म की आराधना करता है उसको वास्तव में जैन धर्म प्राप्त नहीं होता।

☐ पुण्यहीन मनुष्य द्रव्य पाने की इच्छा से एक पर्वत पर चढ़ता है, और उस पर्वत के मार्ग में इधर-उधर निधि को ढूंढ़ता है, ढूंढ़ते-ढूंढ़ते जब उसको वह निधि मिलने का समय आता है तब वह पागल हो जाता है। पागल हो जाने पर उसको उस पास पड़ी हुई द्रव्य का ज्ञान भी नहीं रहता। इसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक मनुष्य अनेक शास्त्र-वेद-पुराण आदि पढ़कर भी आत्मतत्त्व के यथार्थ निर्णय की बुद्धि न होने के कारण जैसे के तैसे अज्ञानी ही बने रहते हैं। पाप कर्म की कितनी शक्ति है!

☐ दिगम्बर मुनि होकर कठोर तपस्या करके मनुष्य अहमिन्द्र पद भी पा लेता है परन्तु सम्यक्त्व न होने से उसका संसार-भ्रमण नहीं छूट पाता।

☐ हाथ पर रक्खे हुए आंवले के समान विद्याओं और कलाओं को जानकर करोड़ों युग तक तपस्या करके भी सम्यग्दर्शन रूपी अमृत-रस का आस्वादन न करने वाले मनुष्य को मोक्ष प्राप्त नहीं होती। यह सम्यग्दर्शन अभव्य की तो बात ही क्या दूर-भव्य को भी दुर्लभ है। यह तो निकट-भव्य प्राणी को ही प्राप्त होता है। कितना भी प्रकाश क्यों न हो अन्धे मनुष्य को कुछ दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार अभव्य को चाहे कितना भी उपदेश दिया जाए, व्रताचरण कराया जाए किन्तु उसे सम्यक्त्व नहीं होता। नेत्र-रोग वाले मनुष्य को नेत्र ठीक हो जाने पर दिखाई देने लगता है उसी तरह दूर-भव्य को दीर्घ समय पीछे मिथ्यात्व हटने से सम्यक्त्व प्राप्त होता है। किन्तु जैसे ठीक नेत्र वाले मनुष्य को प्रकाश होने पर तत्काल दिखाई देने लगता है, उसी तरह निकट भव्य को सम्यक्त्व की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है।

☐ परम आराध्य श्री वीतराग भगवान् जिनेन्द्र देव का उपदिष्ट आगम तथा पदार्थ और जिनेन्द्र देव के चरणचिह्नों पर चलने वाले परम निर्मल निर्ग्रन्थ योगी का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है। अर्हन्त भगवान्, जिनवाणी, निर्ग्रन्थ गुरु तथा जिनवाणी में प्रतिपादित पदार्थों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

☐ निर्ग्रन्थ गुरु के वचन रूपी दीपक द्वारा प्रकाशित और अपने सुयुक्ति रूपी नेत्रों से देखे हुए आत्म-स्वरूप का निश्चय सम्यग्-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन है। अचल सुमेरु भी कदाचित् चलायमान हो जाए, अग्नि भी कदाचित् शीत (ठण्डी) बन जाए तथा चन्द्र में भी कदाचित् उष्णता प्रगट होने लगे, परन्तु जिनेन्द्र भगवान् के वचन कदापि अन्यथा नहीं हो सकते, ऐसी अचल श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है। समस्त संसार मोह-जाल में फंसा हुआ है उस मोह-जाल को छिन्न-भिन्न करके मोक्ष की ओर आकर्षित करने वाला जिनमार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है, ऐसी निश्चल श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। जिनेन्द्र देव की जैसी आकृति आंखों से देखी है, उसको मन में रखकर फिर सिद्ध परमेष्ठी को साक्षात् देख लेने की हृदय में भावना करना सम्यक्त्व है।

□ बाह्य क्रियाओं को छोड़ दो, सद्गुरु के उपदेश रूपी रत्न-ज्योति से मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को हटा कर अन्तर्मुख हो जाओ, निचश्ल चित्त बन जाओ, स्वाधीन सुखामृत में मग्न हो जाओ। ऐसी वृत्ति रखने वाला शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और संसार-सागर के पार पहुंचने वाला है।

□ सम्यक्त्व का नष्ट होना मिट्टी के घड़े के टूटने के समान है और चारित्र का नष्ट होना सुवर्ण घड़े के टूटने के समान है। मिट्टी का घड़ा टूट जाने पर फिर नहीं जुड़ सकता किन्तु सोने का घड़ा टूट जाने के बाद भी फिर जुड़ जाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व के नष्ट हो जाने पर आत्मा का सुधार नहीं हो सकता, चारित्र नष्ट हो जाने पर फिर भी आत्मा सुधर जाती है।

□ जहां पर जिनेन्द्र देव का पूजन महोत्सव होता है वहाँ जाकर हर्ष मनाना, जिनेन्द्र भगवान् की महिमा सुनकर और देख कर आनन्द मनाना, जैन शास्त्रों के महान् विस्तार को देखकर हर्ष मनाना, जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार करने में आनन्दित होना, जिनागम में सारतत्त्व का विवेचन देखकर प्रसन्न होना, जिन-चैत्यालय को देखकर हर्षित होना, इस प्रकार की प्रवृत्ति वाला शुद्ध सम्यक्त्वी है।

□ हे भव्य जीव ! तू इस संसार में अनादि समय से भटक रहा है। इस लोकाकाश का कोई भी ऐसा प्रदेश शेष नहीं रहा जहां तू उत्पन्न नहीं हुआ। कोई ऐसा पदार्थ नहीं बचा जिसको तूने भक्षण नहीं किया, तू जगत् के समस्त प्रदेशों में घूम आया, कर्म-बन्धन के समस्त भाव भी तूने प्राप्त किये, संसार की समस्त पर्यायें तू प्राप्त कर चुका है। इतना सब कुछ होकर भी दुर्मोह से तू फिर उन्हीं पदार्थों की भिक्षा मांगता है यह तुझे शोभा नहीं देता। तू अपने स्वरूप को प्रत्यक्ष अवलोकन कर, यही श्रेष्ठ है और अन्त में तू नित्य निरञ्जन मोक्ष-वैभव को इसी से प्राप्त करेगा।

□ पृथ्वी पर हाथ का आघात करने से पृथ्वी पर चिह्न पड़ता है, वह कदाचित् चूक जाय या विफल हो जाय परन्तु जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश कभी निष्फल नहीं हो सकता। यदि अर्हन्त भगवान् की वाणी निष्फल हो जाएगी तो समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ देगा, अचल सुमेरु चलायमान हो जाएगा तथा सूर्य के उदय-अस्त होने का क्रम भी भंग हो जाएगा।

□ जिनेन्द्र देव के वचन रसामृत का आस्वादन करना, उसको श्रेयस्कर मानना, उसमें ही निमग्न होना, उसी में आनन्द अनुभव करना, अनुपम सुख का बीज है। सम्यक्त्व ही परम पद है, सम्यक्त्व ही सुख का घर है, सम्यक्त्व ही मुक्ति का मार्ग है, सम्यक्त्व-सहित तप ही सफल है। सम्यक्त्व में प्रवृत्ति करना, आत्म-श्रद्धा करना, जिन-भक्ति करना, तत्त्वों में रुचि करना, आत्म-ज्ञान होना, यह सब सम्यग्दर्शन के पर्याय नाम हैं।

□ संसार तथा शरीर, विषय भोगों से विरक्त गृहस्थ जब पांच उदुम्बर फल (बिना फूल के ही जो फल होते हैं—१. बड़, २. पीपल, ३. पाकर, ४. ऊमर, ५. कठूमर) भक्षण के त्याग तथा ३ मकार (मद्यपान, मांस भक्षण, मधु भक्षण) के त्याग के साथ सम्यग्-दर्शन (वीतराग देव, जिनवाणी, निर्ग्रन्थ साधु की श्रद्धा) का धारण करना दर्शन प्रतिमा है। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन पांच पापों के स्थूल त्याग रूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह परिमाण, ये पांच अणुव्रत, दिग्व्रत, देश व्रत, अनर्थ दण्ड व्रत, ये तीन गुणव्रत, सामायिक, प्रौषधोपवास भोगोपभोग परिमाण, अतिथि संविभाग, ये चार शिक्षाव्रत (५+३+४=१२) हैं, इन समस्त १२ व्रतों का आचरण करना व्रत प्रतिमा है।

□ संकल्प से (जान बूझकर) दो इन्द्रिय आदि त्रस जीवों को न मारना अहिंसा अणुव्रत है। राज-दण्डनीय, पंचों द्वारा भंडनीय, असत्य भाषण न करना सत्य अणुव्रत है। सर्वसाधारण जल मिट्टी के सिवाय अन्य व्यक्ति का कोई भी पदार्थ बिना पूछे न लेना, अचौर्य अणुव्रत है। अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय शेष सब स्त्रियों से विषय-सेवन का त्याग ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। सोना, चांदी, वस्त्र, बर्तन, गाय आदि पशु धन, गेहूं आदि धान्य, पृथ्वी, मकान, दासी (नौकरानी), दास (चाकर) तथा और भी परिग्रह पदार्थों को अपनी आवश्यकतानुसार परिमाण करके शेष परिग्रह का परित्याग करना परिग्रह परिमाण व्रत है। पंच पापों का आंशिक त्याग होने से इनको अणुव्रत कहते हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य तथा ऊर्ध्व (पृथ्वी से ऊपर आकाश) और अधः (पृथ्वी से नीचे), इन दस दिशाओं में आने-जाने की सीमा जन्म भर के लिए करना 'दिग्व्रत' है। दिग्व्रत के भीतर कुछ नियत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय तक आवश्यकतानुसार छोटे क्षेत्र की मर्यादा करना 'देशव्रत' है, जिन क्रियाओं से बिना प्रयोजन व्यर्थ में पाप-अर्जन होता है उन कार्यों का त्याग करना अनर्थदण्ड व्रत है। नियत समय तक पंच पापों का त्याग करके एक आसन से बैठकर या खड़े होकर सबसे रागद्वेष छोड़कर आत्म-चिन्तन करना, बारह भावनाओं का चिन्तवन करना, जाप देना, सामायिक पाठ पढ़ना सामायिक है। अष्टमी और चतुर्दशी के दिन समस्त आरम्भ परिग्रह को छोड़कर खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना तथा पहले और पीछे के दिन (सप्तमी, नवमी, त्रयोदशी पूर्णिमा) प्रोषध (एकाशन एक बार भोजन) करना प्रोषधोपवास है। भोग्य (एक बार भोगने योग्य भोजन, तेल आदि पदार्थ) तथा उपभोग्य (अनेक बार भोगने योग्य पदार्थ— वस्त्र, आभूषण, मकान, सवारी आदि) पदार्थों का अपनी आवश्यकतानुसार परिमाण करके शेष अन्य सबका त्याग करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है। अपने यहां आने की तिथि (प्रतिपदा, द्वितीया आदि दिन) जिनकी कोई नियत नहीं होती, ऐसे मुनि, ऐलक, क्षुल्लक आदि अतिथि व्रती पुरुषों को भक्तिभाव से तथा दीन-दुःखी दरिद्रों को करुणा भाव से एवं साधर्मी गृहस्थों को वात्सल्य भाव से भोजन कराना, ज्ञान-दान, औषधदान तथा अभयदान करना अतिथि संविभाग व्रत है।

☐ शुभकर्म के अभाव में धन नहीं मिलता, यदि धन मिल जाए तो सत्पात्र नहीं मिलता, यदि सत्पात्र मिल जाए तो पात्र दान करने की प्रेरणा करने वाले सहायक व्यक्ति नहीं मिलते। यदि पुत्र, स्त्री, मित्र आदि दान करने में अनुकूल सहायक भी मिल जाएं तो फिर सत्पात्रों को दान करने से अनन्त चतुष्टय प्राप्त होने में क्या सन्देह है? अर्थात् कुछ नहीं।

☐ सत्पात्रों को आहार दान करने से महान् अभ्युदय प्राप्त होता है। जिस तरह निर्दोष भूमि में बीज डालने से फल अवश्य मिलता है, इसी तरह भव्य द्वारा सत्पात्र को दिया हुआ दान अवश्य मोक्ष फल देता है।

☐ दान चार प्रकार का होता है—आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान, अभयदान।

आहार दान — जिस प्रकार वैद्य रोगियों की प्रकृति वा उदराग्नि को जानकर और योग्य औषधि वगैरह देकर उनकी रक्षा करते हैं, जिस तरह किसान अपने खेत की रक्षा करते हैं, ग्वाले दूध के लिए गाय की रक्षा करते हैं, एवं राजा जिस तरह अपने राज्य की रक्षा करते हैं, उसी तरह धर्मात्मा लोग आहार दान द्वारा धर्म की तथा मुनि आदि धर्मात्माओं की रक्षा करते हैं।

औषध दान—रोग दूर करने के लिए शुद्ध औषधि प्रदान करना औषधदान है। मुनि आदि व्रती पुरुषों के रोग निवारण के लिए उनको प्रासुक औषध आहार के समय देना चाहिये, भोजन भी ऐसा होना चाहिए जो रोगवृद्धि में सहायक न होकर रोग शान्त करने में सहायक हो। अन्य दीन-दुःखी जीवों का रोग दूर करने के लिए करुणा भाव से उनके लिए बिना मूल्य औषध बांटना, औषधालय खोलना, बिना कुछ लिये मुफ्त चिकित्सा करना औषधदान है।

ज्ञान दान — मुनि व्रती त्यागी पुरुषों को स्वाध्याय करने के लिए शास्त्र प्रदान करना, ज्ञानाभ्यास के साधन जुटाना तथा सर्वसाधारण जनता के लिए पाठशाला स्थापित करना, स्वयं पढ़ना, प्रवचन करना, उपदेश देना, जिनवाणी का उद्धार करना, पुस्तकें बांटना ज्ञान दान है।

अभय दान—मुनि आदि अनगार व्रतियों के ठहरने के लिये नगर के बाहरी प्रदेशों, वन, पर्वतों में तथा नगर, पुर में मठ बनवाना, जिससे कि जङ्गली जीवों से सुरक्षित रहकर वे ध्यान आदि कर सकें। आगन्तुक विपत्ति से उनकी रक्षा करना तथा साधारण जनता के लिए धर्मशाला बनवाना, विपत्ति में पड़े हुए जीव का दुःख मिटाना, भयभीत प्राणियों का भय मिटाना आदि अभयदान है।

☐ संसार में एक आत्मा ही सारभूत है और शरीर निस्सार है। ऐसी निश्चल बुद्धिपूर्वक भावना से शरीर को त्यागने वाला व्यक्ति धीर पुरुष है।

☐ हे जीवात्मन्! तू रात दिन अज्ञानवश अन्न-पानादिक खाद्य पेय पदार्थों का ध्यान करके अपनी आत्मा का अधःपतन न कर, किन्तु सारतर परम सौख्य सुधारस-भरित आत्म-तत्त्व का ध्यान कर।

☐ अपने मन को बाह्य विषय वासनाओं में न घुमाकर सदा अपने उपयोग में स्थिर करके निराबाध केवल ज्ञान होने पर्यन्त स्थिर रहो।

☐ हे भव्य जीव! मन वचन काय की प्रवृत्ति बाहर की ओर से हटाकर अन्तर्मुख करो, तथा अपने चैतन्य भाव को ग्रहण करो। ऐसा किये बिना संसार की परम्परा नहीं टूटती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

□ मुनियों का धर्म १० प्रकार का है : (१) उत्तम क्षमा, (२) उत्तम मार्दव, (३) उत्तम आर्जव, (४) उत्तम शौच, (५) उत्तम सत्य, (६) उत्तम संयम, (७) उत्तम तप, (८) उत्तम त्याग, (९) उत्तम आकिञ्चन्य, (१०) उत्तम ब्रह्मचर्य ।

□ अपने मन में क्रोध भाव न लाकर, यों विचार करना कि मैं भेदात्मक तथा अभेदात्मक रत्नत्रय का धारक हूं, ऐसी भावना का नाम उत्तम क्षमा है। ज्ञान, तप, रूप आदि आठ प्रकार का अभिमान न करना, अपने अपमान होने पर भी खेद-खिन्न न होना तथा सम्मान होने पर प्रसन्न न होना मार्दव धर्म है। मन वचन शरीर की क्रियाओं (विचार, वाणी और काम) में कुटिलता न आने देना आर्जव धर्म है। किसी भी पदार्थ पर लोभ न करके अपना मन पवित्र रखना शौच धर्म है। राग द्वेष मोह आदि के कारण झूठ न बोलना सत्य धर्म है। मन वचन काय की शुद्धि द्वारा किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं देना संयम धर्म है। अनशनादिक बहिरङ्ग तथा प्रायश्चित्त आदि अन्तरङ्ग तपों का आचरण करना तप धर्म है। संसार के समस्त पदार्थों से भी मनुष्य की तृष्णा शान्त नहीं होती, ऐसा विचार करके परमाणु मात्र भी पर-पदार्थ अपने पास न रखकर उनका त्याग कर देना त्याग धर्म है। अन्य पदार्थों की बात तो दूर है, अपना शरीर तथा शरीर से उत्पन्न हुआ पुत्र-पौत्र आदि परिवार भी आत्मा का अपना नहीं है, ऐसा विचार करके किसी भी पदार्थ में ममत्व भाव न रखना आकिञ्चन्य धर्म है। विषयवासना का त्याग करके अपने आत्मा में रत रहना ब्रह्मचर्य धर्म है।

□ सम्पत्तिशाली, समस्त इष्ट पदार्थ प्रदान करने वाला, मोक्ष कारण, चतुर्गति भ्रमण संसार दुःख को नाश करने वाला तथा लोक का हितकारी पंचपरमेष्ठी का मन्त्र सदा मेरे हृदय में रहे। पंचपरमेष्ठी का पद अनन्तानन्तकाल से संचित पापों को नष्ट करता है तथा पंचमगति मोक्ष को शीघ्र बुलाकर देने वाला है। इस पंचपरमेष्ठी की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है? भयानक रोग, चोर, शत्रु, अग्नि, जल, राजरोग आदि भयंकर दुःखों का नाश करने वाला सारभूत पंच नमस्कार मन्त्र कल्प वृक्ष के समान हृदय में विराजमान रहे। यह पंचणमोकार मन्त्र सागर रूपी कीचड़ का नाश कर देता है, शाकिनी, डाकिनी, भूत, पिशाच आदि को भगा देता है। समस्त मङ्गलों में उत्तम है।

□ यह पंच नमस्कार मन्त्र तीन लोकों को कंपा देता है, तीन लोकों में सर्वोत्तम गर्भावतरण, जन्माभिषेक, दीक्षा कल्याणक, केवलज्ञान तथा लक्ष्मी को आकर्षण करके देने वाला है। अनुपम उत्कृष्ट मोक्ष लक्ष्मी को वश में करके देने वाला यह मन्त्र है। ज्ञानरूपी चन्द्रमा का उदय करने वाला है। त्रिलोकवर्ती समस्त प्राणियों को मोहित करने वाला है। ऐसा अतिशयशाली अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय सर्वसाधु के नमस्कार रूप मन्त्र मेरी जीभ पर सदा निवास करे।

□ पंचपरमेष्ठी के नाम रूप मन्त्राक्षर अत्यन्त प्रबल कर्मशत्रु को नाश करने वाले हैं, प्रबल मिथ्यात्व ग्रह को भगाने वाले हैं, दुष्ट कामदेव रूप सर्प के विष को निर्विष करने वाले हैं, रागादि परपरिणति से होने वाले कर्मास्रव को रोक देते हैं, इन्द्र धरणीन्द्र पदवी को प्रदान करने वाले हैं, मोक्ष लक्ष्मी को मोहित करने वाले हैं तथा सरस्वती को मुग्ध करने वाले हैं।

□ अर्हंत शब्द में 'अ' अक्षर परम ज्ञान का वाचक है, 'र' अक्षर समस्त लोक के दर्शक का वाचक है, 'ह्' अक्षर अनन्त बल का सूचक है, बिन्दु (बिन्दी) उत्तम सुख का सूचक है।

□ अर्हन्त परमेष्ठी का प्रथम अक्षर 'अ', अशरीरी (पौद्गलिक शरीर रहित सिद्ध परमेष्ठी) परमेष्ठी का आदि अक्षर 'अ', आचार्य परमेष्ठी का आदि अक्षर 'आ'; इन तीनों अ+अ+आ को मिलाकर सवर्ण स्वर सन्धि के नियम अनुसार तीनों अक्षरों का एक अक्षर 'आ' हो गया। उपाध्याय परमेष्ठी का प्रथम 'उ' है। पहले तीन परमेष्ठियों के आदि अक्षरों को मिलाकर जो 'आ' बना था उसमें 'उ' जोड़ देने पर (आ+उ) स्वर सन्धि के नियम अनुसार दोनों अक्षरों के स्थान पर एक 'ओ' अक्षर हो गया। पांचवें परमेष्ठी 'मुनि' का प्रथम अक्षर 'म्' है। उसको चार परमेष्ठियों के आदि अक्षरों के सम्मिलित अक्षर 'ओ' के साथ मिला देने पर 'ओम्' बन जाता है। इस प्रकार 'ओम्' या ॐ शब्द पंच परमेष्ठियों का वाचक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

☐ हे अपराजितेश्वर! जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इन सात तत्त्वों पर श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन है। इन सात तत्त्वों के अर्थ अपने मन में ठीक तरह से समझ लेना सम्यग्ज्ञान है। अहिंसा धर्म में या जिनवाणी में बाधा न आए, इस तरह आचरण करना यह सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार ये तीन रत्नत्रय हैं। इन तीन रत्नत्रयों की प्राप्ति किस समुद्र से है? इस अनमोल रत्नत्रय का स्थान श्रेष्ठ तप ही एक समुद्र है।

☐ अरे मूर्ख! तू इस शरीर में वृथा क्यों आसक्त हो रहा है? इस शरीर को तू केवल जेलखाना समझ। जेलखाना बड़े-बड़े पत्थर सहतीर वगैरह लगाकर बनता है। यह शरीर हड्डियों से बना हुआ है। जेलखाना लोहे और पत्थर आदि के परकोटे से घिरा हुआ होता है, यह शरीर शिरा स्नायुओं से जकड़ा हुआ है। जेलखाना भी कैदी लोग कहीं से निकल न जाएँ इसके लिए सब तरफ से ढँका हुआ रहता है, यह शरीर चमड़े से ढँका हुआ है। जेलखाने में जहाँ-तहाँ कैदियों के आघात से रुधिर, मांस दृष्टिगोचर होता है परन्तु शरीर के भीतर सभी जगह वह भरा हुआ है। कैदी कहीं भाग न जाए इसलिए जेलखाने के आस-पास जेल के स्वामी की तरफ़ से चारों तरफ़ मनुष्यों का पहरा लगा रहता है। इसी प्रकार इस शरीर में भी दुष्ट कर्म शत्रुओं का पहरा लगा रहता है। जेलखाने में जगह-जगह दरवाजों के बीच में अर्गला की लकड़ी लगी रहती है जिससे कैदी बाहर न निकल जाएँ। यहां भी जीव-कैदी को रोकने के लिए आयु रूप मजबूत अर्गला लगी हुई है। जब तक आयु अर्गला नहीं हटती हैं तब तक जीव रूप कदी शरीर में से बाहर नहीं निकल सकता। जब ऐसा है तो शरीर और जेलखाने में क्या अन्तर है? कुछ भी नहीं।

☐ पूजा में स्वस्तिक की स्थापना कल्याण तथा सिद्धत्व की प्राप्ति के हेतु होती है। स्वस्तिक के बीच के चार शून्य चार गतियों के द्योतक हैं। सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए इन चारों गतियों का नाश आवश्यक है। इन गतियों का नाश होने पर ही अन्तिम परमस्थानों और सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रय की पूर्ण प्राप्ति सम्भव है। इसका प्रयोजन क्रमशः चार अनुयोगों की आराधना, चौबीस तीर्थंकरों की भक्ति, पांच परमेष्ठी तथा युगल चारण मुनियों के चार चरणों का ध्यान है। पूजा के आरम्भ में स्वस्तिक में आराधक इसी भाव की स्थापना करते हैं।

☐ जो अज्ञानी मनुष्य शत्रु के आधीन मित्र को, पातिव्रत्य रहित स्त्री को, कुलनाशक पुत्र को, मूर्ख मंत्री को, स्वार्थी राजा को, प्रमादी वैद्य को, रागयुक्त देव को, विषयासक्त गुरु को तथा दया से वर्जित धर्म को प्रमादवश नहीं छोड़ता है, उसे पुण्य छोड़ देता है।

☐ हाथी मद से, पानी कमलों से, रात्रि पूर्ण चन्द्रमा से, वाणी व्याकरण से, नदियां हंसों के मिथुनों से, सभा पण्डितों से, स्त्री शील व्रत से, अश्व दौड़ने से, मन्दिर नित्य मंगलोत्सव करने से, कुल सत्पुत्र से, पृथ्वी राजा से तथा तीनों लोक धर्म से सुशोभित होते हैं। इसलिये मनुष्य को धर्म नहीं छोड़ना चाहिये।

☐ रात्रि का दीपक चन्द्रमा, प्रभात का दीपक सूर्य, कुल का दीपक सत्पुत्र तथा तीनों लोकों का दीपक धर्म है। इसलिये मनुष्य को धर्म कदापि नहीं छोड़ना चाहिये।

☐ हे अपराजितेश्वर! यह आत्मा एक भी है अनेक भी है, कम ज्यादा भी है, नाशरहित है, नाशवंत भी है, अस्ति रूप है, नास्तिक रूप भी है। तीनों लोक के परिमित है और धारण किये हुए शरीर के प्रमाण भी है। लोकालोक को व्यापे हुए है व कर्मबद्ध भी है और मुक्त भी है। इस प्रकार इसकी महिमा को कौन जान सकता है? यह तो ध्यान में योगियों को गम्य है, अन्यथा नहीं।

☐ जिन-मन्दिर पर शिखर और शिखर से ऊंचा ध्वज स्तम्भ होना चाहिये। शिखरों के कलशों से ध्वजा सदा ऊंची होनी चाहिये। नीची ध्वजा शुभ नहीं होती है। जिस प्रकार व्रत की पूर्णता उद्यापन से होती है, भोजन की पूर्णता और शोभा तांबूल से होती है, उसी प्रकार जिन-भवन की शोभा और पूर्णता शिखर कलश और ध्वजा स्तम्भ से होती है।

☐ जो पुरुष बिम्बाफल पत्ते के समान बहुत छोटा चैत्यालय बना कर तथा उसमें जौ के समान छोटी-सी प्रतिमा विराजमान करके भगवान् की पूजा किया करता है तो समझना चाहिये कि मुक्ति इसके अत्यन्त समीप आ चुकी है।

☐ यदि जिन-प्रतिमा का मुख पूर्व दिशा की ओर हो तो पूजा करने वाले को उत्तर दिशा की ओर मुंह करके पूजा करनी चाहिये। यदि प्रतिमा का मुख उत्तर दिशा की ओर हो तो पूजक को पूर्व दिशा की ओर मुंह करके पूजा करनी चाहिये। दक्षिण दिशा की ओर वा विदिशा की ओर मुंह करके कभी पूजन नहीं करना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

☐ हे अपराजितेश्वर! मित्र भी अपने में ही है और शत्रु भी अपने में ही है। इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा हुआ यह सत्य वाक्य है। फिर मैं इसके अतिरिक्त बाहर क्यों देखता हूँ? क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान इत्यादि आठों गुणों में संतोष करते हुए रहने से उसी समय ज्ञानावरण इत्यादि आठों कर्मों को दूर करते हुए अब मैं अपनी ज्ञान दृष्टि को अपने में स्थिर करके उसी में रहूं, उसी को देखूं, उसी में खेलूं। अब मुझको अन्य वस्तु को देखने का क्या काम?

☐ हे अपराजितेश्वर! नदी, सरोवर, समुद्र के किनारे, पर्वत की गुफा, जिन मन्दिर, वन वाटिका, रेती की चट्टान, शून्यागार, श्मशान एवं अन्य निर्जन स्थानों में पशु, नपुंसक, दुष्ट स्त्री, दुष्ट जन तथा विघ्नकारक जीव-जन्तु से रहित स्थान ध्यान करने के लिए सर्वोत्कृष्ट हैं।

☐ इस चंचल मन को रोकने के लिए हमेशा शास्त्र-स्वाध्याय करते रहना चाहिये क्योंकि यह बन्दर के समान अत्यन्त चंचल है। जैसे चंचल बन्दर को जब तक खाने के लिए फल-फूल अथवा वृक्ष पर हरे-भरे पत्ते न मिलें तब तक वह वहां स्थिरता-पूर्वक नहीं रहता है किन्तु जब उसको वृक्ष में हरे-भरे पत्ते मिल जाते हैं तब उसी में रत रहकर उसीमें रम जाता है। उसी तरह यह हमारा चंचल मन इधर-उधर सूखे हुए संसार रूपी जंगल में इन्द्रिय जन्य क्षणिक वासनाओं के प्रति हमेशा घूमा करता है। यदि यह शास्त्र-स्वाध्याय तथा अन्य पुराण पुरुषों की कथा या आत्मतत्त्व की चर्चा आदि रूपी हरे-भरे वृक्ष में लग जाय तो उसकी चंचलता रुक जाती है और चंचलता रुक जाने से मन अपने आत्मा में स्थिर हो जाता है। तत्पश्चात् बाहर से आने वाले अशुभ कर्मों का द्वार बन्द हो जाता है। स्वाध्याय का अर्थ आत्मा के सन्मुख होना है। स्वाध्याय एक परम तप है। स्वाध्याय से मन में शान्ति मिलती है और यह कर्म की निर्जरा के लिए मुख्य कारण है। इसलिए मनुष्य को हमेशा स्वाध्याय करते रहना चाहिए।

☐ जिस मुनि का चित्त महलों के शिखर में और श्मशान में, स्तुति और निंदा के विधान में, कीचड़ और केशर में, शय्या और कांटों के अग्रभाग में, पाषाण और चन्द्रकान्त मणि में, चर्म और चीन देशीय रेशम वस्त्रों में और क्षीण शरीर व सुन्दर स्त्री में, अतुल्य शान्त भाव के प्रभाव या विकल्पों से स्पर्शन न करे, वही एक प्रवीण मुनि समभाव की लीला के विलास का अनुभव करता है अर्थात् वास्तविक समभाव ऐसे मुनि के ही जानना चाहिये।

☐ हे परमात्मन्! मैं न तो इन्द्र का पद चाहता हूं और न चक्रवर्ती पद। मेरे हृदय में तो यही भावना है कि सदैव आपके चरणों की भक्ति बनी रहे।

मेरु मन्दर पुराण

☐ तुमको यदि संसार के दुःखों का नाश करना है तो सम्पूर्ण परिग्रहों को छोड़कर जिनदीक्षा धारण करो। जिनदीक्षा धारण किये बिना अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति व अनन्त सुख आदि देने वाले मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। आठों कर्मों से रहित शुद्ध स्वर्ण के समान कलंकरहित यह जीव सदैव प्रकाशमान होता है।

☐ मनुष्य पर्याय को धारण किया हुआ जीव अपने शरीर को छोड़कर अपने-अपने परिणाम के अनुसार चारों गतियों को प्राप्त करता है। न्यूनाधिक परिणामों के अनुसार पंचेन्द्रिय पर्याय तथा तिर्यंच गति को प्राप्त हुए जीव अपने-अपने परिणामानुसार पूर्वोक्त कथन के समान अनेक गतियों में जन्म लेते हैं। देव गति में जन्म धारण किया हुआ जीव देव पर्याय को छोड़कर मनुष्य व तिर्यंच गति को प्राप्त होता है।

☐ जीव अमूर्तिक स्वभाव वाले हैं। जिस प्रकार एक दीपक को दोनों हाथों की अंजुलि में रखकर यदि बन्द किया जाए तो वह प्रकाश मन्द-मन्द प्रतीत होता है, उसी प्रकार अनादि काल से रहने वाले शरीर में आत्मा शरीर रूपी आवरण को प्राप्त हुआ है। नाम कर्म द्वारा जितना शरीर का परिमाण होता है उतना ही आत्मा छोटे-बड़े शरीर प्रमाण धारण किये हुए है। यह जीव अत्यन्त सूक्ष्म तथा मोटे रूप को धारण करता है, परन्तु आत्मा शरीर के निमित्त कारण छोटा-बड़ा कहलाता है। यदि निश्चय नय की दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा न छोटा होता है और न बड़ा। यह आत्मा शरीर का निमित्त पाकर छोटा-बड़ा शरीर धारण करता है। आत्मा छोटा-बड़ा नहीं है।

☐ आकाश में बिजली की चमक के समान समस्त जीव जन्म-मरण करते आये हैं। इन तीन लोकों में सर्व जीव परस्पर बंधु के रूप में भी हैं, नाती तथा मित्र भी हैं। परन्तु वे कभी भी स्थिर होकर अपने साथ नहीं रहते, सदैव उनका संयोग-वियोग होता ही रहता है।

☐ सम्पत्ति आकाश में बिजली की चमक के समान क्षणिक है। राजा-महाराजा के पास संपत्ति होते हुए भी वे क्षणिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संपत्ति के मोह से ही चक्रवर्ती होते हुए भी नरक में गए हैं। यह सब मोह की लीला है। संपत्ति एक स्थान पर स्थिर नहीं रहती। यह सम्पत्ति वेश्या के समान है जो कभी इसकी बगल में कभी उसकी बगल में जाती है। यह सब पाप-पुण्य का फल है। इस कारण किसी को सुख-शान्ति नहीं मिलती। एक दिन सबको छोड़कर जाना पड़ेगा।

☐ तीनों लोकों की सम्पत्ति अपने पास रहने पर भी मूर्खअ ज्ञानी लोगों की तृष्णा की पूर्ति नहीं होती। वे मूर्ख इतना होने पर भी दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण करने की भावना रखते हैं। सामान्य रीति से विचार किया जाय तो यह भी एक चोरी है। चोरी दो प्रकार की होती है – कार्य चोरी व कारण चोरी। अपने पास कितनी भी सम्पत्ति रहने पर भी दूसरों का द्रव्य लेना, मायाचार से अन्य का धन लेना, दरिद्रता आने से चोरी करना यह सभी कारण चोरी हैं। मायाचार से दूसरे माल को लेते समय अधिक लेना, देते समय कम देना, हमेशा अन्याय द्वारा धन सम्पन्न करना, अन्य का माल चुरा लेना आदि कार्य चोरी कहलाती है।

☐ भूमि में बीज बोए बिना अंकुर की प्राप्ति नहीं होती। पर्वत पर यदि पानी की वर्षा न हो तो ऊपर से झरता हुआ पानी तालाब व कुओं में नहीं आता, उसी प्रकार पुण्य के कारण होने वाले व्रत, नियम, अनुष्ठान, पूजा आदि किये बिना इस मानव को पंचेन्द्रिय सुख की प्राप्ति नहीं होती।

☐ करोड़ों चन्द्र और सूर्यों से भी अधिक तेजमय केवल ज्ञान रूपी उत्कृष्ट ज्योति को धारण करने वाले देवताओं के मौलि मुकुटों से प्रतिबिंबित श्री ऋषभदेव के चरण कमल हमारी रक्षा करें।

☐ सारासार विचार में परायणकारिणीभूत आत्मस्वरूप हे महात्मन्! सद्गुण रूपी श्रृङ्गार हार से शोभित हे निरंजन सिद्ध भगवान्! मुझे सारभूत सद्बुद्धि शीघ्रातिशीघ्र प्रदान कीजिये।

☐ हे भोग सागर, सुज्ञान सागर, कान्ति सागर, योग सागर, वीतराग निरञ्जन सिद्ध भगवान्! मुझको शीघ्र ही सन्मार्ग दिखाओ।

☐ संसार नाटक को देखते हुए एवं बोधरूपी तथा ज्ञान दर्शन सुखमयी सत्त सुखों में मग्न होकर नृत्य करने वाले हे संश्री, सभी दुःखों को विध्वंस करने वाले निरञ्जन सिद्ध भगवान् मुझमें सद्बुद्धि प्रदान करो।

☐ सज्जनों के अधिपति, सुज्ञान सूर्य, तीनों लोकों को आनन्ददायक एवं अष्ट कर्म रूपी अष्ट दिशाओं को जीतकर अखण्ड साम्राज्य को प्राप्त करने वाले भगवान् सिद्ध परमात्मा हमें सुबुद्धि प्रदान करें।

☐ हे परमात्मन्! आप सुख निधि हैं। लोक में जो पदार्थ सर्वश्रेष्ठ कहलाता है उससे भी आप अत्यधिक श्रेष्ठ हैं। जो वस्तु निर्मल है उससे भी आप अत्यधिक निर्मल हैं और जो वस्तु मधुर है उससे भी आप अत्यधिक मधुर हैं। आप मेरे हृदय में चिरकाल तक वास कीजिये।

☐ पोल में कूट-कूट कर भरे हुए तिल की भांति तीन लोक की पोल में भरे हुए समस्त चराचर जीवों को एक साथ ही केवल ज्ञान रूपी नेत्रों से देखने वाले ज्ञानाधिपति हे निरंजन सिद्ध भगवान्! आप सर्वदा मेरे हृदय में रहकर मुझे विशुद्ध कीजिये।

☐ हे सिद्धात्मन्! आप कामदेव रूपी मतवाले हाथी के लिए सिंह के समान हैं, ज्ञान-समुद्र को भड़काने के लिये चन्द्रमा के समान हैं तथा कर्म-पर्वत को आप सम्हाल चुके हैं इसलिये हमें भी उसी प्रकार का ज्ञान दीजिये जिससे हम अपनी कायरता को त्याग सकें।

☐ हे निरंजन सिद्ध भगवान्! आप लोकैकशरण हैं। जो भव्य जीव आपके शरण में आते हैं उनके संचित पुण्य को देखकर आप उनकी रक्षा करते हैं। इतना ही नहीं बल्कि पाप रूपी भयंकर जाल से मुक्त करते हैं। आप तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ हैं।

☐ हे सिद्धात्मन्! जो प्राणी चलते, बोलते, उठते और बैठते समय स्मरण-पथ में विराजमान रहते हैं उनके सर्वकल्याण होते हैं और उनके समस्त कार्य सिद्ध होते हैं। इसलिए हे निरंजन भगवान्! आप रत्न दर्पण के समान मेरे हृदय में रहकर मुझे सद्बुद्धि प्रदान करिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

☐ हे आत्मन्! तुम परब्रह्म हो। तीनों लोकों में तुम्हीं श्रेष्ठ हो। ज्ञान ही तुम्हारा वस्त्र है। सर्वकर्म-कलंक रहित हो और पापों को जीतने वाले हो। इसलिए तुमको नमस्कार है।

☐ भगवान् आदिनाथ के ज्येष्ठ पुत्र नर लोक के एकमात्र सम्राट् थे। क्षणमात्र दृष्टि बन्द कर मोक्ष को प्राप्त करने वाले उन चक्रवर्ती भरत का मैं क्या वर्णन करूं? सोलहवें मनु, प्रथम चक्रवर्ती, अन्तःपुर वासिनियों के लिए कामदेव, विवेकियों के चूड़ामणि एवम् तद्भव मोक्षगामी भरत का वर्णन करने में मैं कहां तक समर्थ हो सकता हू। सम्राट् भरत का गुण-कीर्तन कैसे किया जाय क्योंकि उदाहरण देने के लिए उनके तुल्य न कोई राजा है और न कोई वस्तु।

☐ संसार में अक्सर यह देखा जाता है कि किसी के पास रूप है तो शील नहीं, शील है तो विद्या नहीं, विद्या है तो शरीर की सुन्दरता नहीं। शरीर की सुन्दरता है तो गंभीरता नहीं, गंभीरता है तो पराक्रम नहीं, पराक्रम है तो युवा नहीं, युवा है तो शरीर-शृङ्गार नहीं। लेकिन सम्राट् भरत में मणिकंचन संयोग तुल्य सर्वगुण विद्यमान थे।

☐ भगवान् की ध्वनि दिव्य है। स्वयमेव भगवान् दिव्य हैं एवम् उनका मुख भी दिव्य व दर्शन भी दिव्य तथा ज्ञान एवम् शक्ति भी दिव्य हैं। इसलिए उनकी सिद्धि भी दिव्य हैं।

☐ चमकता हुआ दर्पण हाथ में होते हुए भी पानी में अपने प्रतिबिम्ब को देखने वाले मूर्ख के समान अपने शरीर के भीतर रहने वाली आत्मा को न देखकर यह जीव सर्वत्र घूम रहा है।

☐ घर में गढ़ी हुई निधि को नहीं देखते हुए श्रीमन्त (धनिक) के पास जाकर याचना करने के समान अनादि काल से शरीर में रहने वाले आत्मा रूपी निधि को न देखते हुए बाहर ही भटकता हुआ सर्वत्र ढूंढ़ रहा है।

☐ हरे-भरे पत्तों को छोड़कर जैसे हाथी ईख के रस का स्वाद लेता है उसी प्रकार कोई-कोई भेद-ज्ञानी शरीर के सुख को तुच्छ मानकर आत्म-सुख का ही अनुभव करता है।

☐ अपने हाथ में विद्यमान पदार्थ को न देखकर सारे जंगल में उसे खोजने वाले मनुष्य के समान शरीर में स्थित आत्मा को न देखते हुए सारे लोक में ढूंढ़ने पर क्या आत्मा की प्राप्ति होगी? कदापि नहीं।

☐ ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है। वह आत्मा निर्मल ज्ञान दर्शनमय स्वरूप है। ये ज्ञान दर्शन ही आत्मा का चिह्न है। ऐसा विचार करने वाले पुरुष धन्य हैं।

☐ यह आत्मा पुरुषाकार होकर शरीर में रहते हुए भी शरीर को स्पर्श नहीं करता है और न शरीर में मिलता है। आकाश के बीच में पुरुषाकार रूप बनाये हुए चित्र के समान यह आत्मा है। जैसे तांबे की चद्दर में निर्मित की हुई छाया प्रतिमा दिन में प्रकाशमय दीखती है, ठीक उसी प्रकार छाया प्रतिमा की तरह शरीर में पुरुषाकार रूप में आत्मा रहती है। छाया प्रतिमा तथा पुरुष की छाया को ज्ञान नहीं है, उसी प्रकार मनगोचर, वाक्गोचर एवम् दूसरों के द्वारा नहीं जाना जाने वाला ऐसी शुद्ध आत्मा छाया की भांति अपने शरीर में ही है।

☐ यह शरीर एक बाजे के समान है। वाद्य को जब तक बजाने वाला नहीं बजाता तब तक उस शरीर का कोई उपयोग नहीं हो सकता। न बोलने वाले शरीर को आत्मा होने से गुंजार कराने लगता है, न चलने वाले को चलाता है, ध्येय (शरीर) और आत्मा दोनों को भिन्न न समझ करके संसार दुःखी हो रहा है। भेद ज्ञान न होने के कारण शरीर के दुःखी होने पर आत्मा भी दुःखी हो जाती है।

☐ सिद्धि दो प्रकार की होती है—एक लौकिक, दूसरी पारमार्थिक। वैरियों का सामना कर अनेक प्रकार की चाल-बाजियों व युक्तियों से जीतना लौकिक अर्थ सिद्धि है। अनादि काल से आत्मा के साथ सन्तान के रूप में रहकर सतत आत्मा को भयभीत करने वाले काल रूपी कर्म को स्वाधीन कर उसका सामना करके जीतना पारमार्थिक सिद्धि है।

☐ राजा सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिये। जैसा राजा होता है उसी प्रकार प्रजा भी होती है। राजा को भोग विचार एवम् आत्म-योग विचार भी होना चाहिये तथा रागरसिक भी होना चाहिये एवम् भावपूर्वक वीतराग रसिक भी होना चाहिये। शृङ्गार रसिक भी तथा अध्यात्म रसिक भी होना चाहिये। शत्रुओं का सामना करने वाला भी होना चाहिये तथा आत्मयोग प्राप्त करने में भी कुशल होना चाहिये। इह लौकिक सुख का उपभोग करते हुए धर्म में उत्सुक होना चाहिये। देखने वाले को ऐसा मालूम होना चाहिये कि संसार रूपी माया में फंसा हुआ है लेकिन हृदय में उसे निःस्पृह होना चाहिये।

☐ विज्ञान दो प्रकार का है—बाह्य विज्ञान, अन्तरंग विज्ञान। बाह्य विषयों के जानने वाले (आत्मा से भिन्न) सभी बाह्य विज्ञान कहलाते हैं और अपनी आत्मा को जानना अन्तरंग विज्ञान है। जगत् में रत्न-परीक्षा करने के लिए प्रयत्न करना व हाथी-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घोड़े आदि की परीक्षा करना सीखना यह भी एक बाह्य कला है। आत्मा सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र 'रत्न त्रय' स्वरूप है। अतः उन रत्नों की परीक्षा कर पहिचानना बड़ा कठिन कार्य है। इसे ही अन्तरंग विज्ञान कहते हैं। इसको जानने से आत्म-कल्याण होता है।

☐ क्या दग्ध बीज बोया हुआ कहीं उगने में समर्थ हो सकता है ? कभी नहीं। क्योंकि उसकी अंकुरोत्पत्ति की शक्ति नष्ट हो चुकी है। उसी प्रकार कर्मबन्ध रूपी अंकुर के लिए बीज रूपी राग को यदि पहले ही नष्ट कर दिया जाय तो फिर क्या उसकी उत्पत्ति आगे हो सकती है ? अर्थात् नहीं। निष्काम भोगी आत्मज्ञानी को किसी भी वस्तु में राग नहीं रहता, इसलिए विकारमय संसार में रहते हुए भी उस पर विकारों का प्रभाव नहीं होता।

☐ यह शरीर 'जिन' मन्दिर है। मन उसका सिंहासन है। निर्मल आत्मा 'जिन' भगवान् हैं। बाहर के सभी विकल्प छोड़ कर, आँख बन्द कर इस प्रकार अपने अन्दर देखें तो सचमुच ही 'जिन' अपने में ही प्राप्त होंगे अर्थात् अपने ही भीतर दर्शन देंगे।

☐ जैसे कोई विद्यार्थी अभ्यास के पाठ को भूल गया हो और अध्यापक के पूछने पर अपनी भूल पर दत्तचित्त होकर विचार करता है, उसी प्रकार ज्ञान दर्शन भी मेरा रूप है ऐसा समझकर एकाग्रता से शरीर के अन्दर (आत्मा में) चित्त लगा से आत्मा का दर्शन होता है।

☐ इस लोक में थल में, जल में अथवा पृथ्वी पर गमन करना सरल है परन्तु बिना आधार के क्या कोई आकाश में भी चल सकता है ? नहीं। इसी प्रकार बाह्य वस्तु का तो सभी वर्णन कर सकते हैं परन्तु आध्यात्मिक विषय का वर्णन करना उन लोगों के लिए कभी शक्य नहीं हो सकता।

☐ शास्त्र के मर्म को न समझकर केवल वस्त्रत्याग करने वाले मुनि, मुनि नहीं हैं। वस्त्र के समान ही तीनों लोक एवं शरीर भी परिग्रह हैं। ऐसा समझकर केवल आत्मा में ही तृप्त होने वाले योगी योगी हैं।

☐ राजा भरत की क्या प्रशंसा की जाय ? भोजन करते हुए भी वे उपवासी हैं और भोग भोगते हुए भी ब्रह्मचारी हैं। हाथ में भू-मण्डल होने पर भी निष्परिग्रही हैं। सिर में बालों की वृद्धि होने पर भी उनका मन मुंडित है।

भावना-सार

☐ भगवान् जिनेन्द्र देव के वचन औषधि के समान हैं और पंच इन्द्रियों के विषयों के विरचन के लिए वीतराग भगवान् की वाणी अमृत के समान है। उस दिव्य वाणी से जन्म-मरणरूपी व्याधियों का नाश होता है। वह अलौकिक वाणी संसारी जीवों के सभी दुःखों का क्षय करने वाली है।

☐ जैन दर्शन किसी पदार्थ को एकान्त नहीं मानता। उसके मत से प्रत्येक पदार्थ अनेकान्त रूप हैं। केवल एक ही दृष्टि से किए गए पदार्थ निश्चय को जैन धर्म अपूर्ण समझता है। उसका कथन है कि पदार्थ का स्वरूप ही कुछ इस प्रकार का है कि हम उसमें अनेक प्रतिद्वन्द्वी परस्पर विरोधी धर्म देखते हैं। यदि वस्तु में रहने वाले किसी एक ही धर्म को लेकर उस वस्तु का निरूपण करें, उसी को सर्वांश रूप में सत्य समझें, तो वह विचार अपूर्ण एवं भ्रान्त ही ठहरेगा क्योंकि जो विचार एक दृष्टि से सत्य समझा जाता है तद्विरोधी विचार भी दृष्टयन्तर से सत्य ठहरता है।

☐ जैसे सूर्य एक ही है, मेघों का आवरण होने से उसकी प्रभा के अनेक भेद हो जाते हैं, उसी तरह निश्चय नय से यह आत्मा भी अखण्ड है व एक तरह से प्रकाशमान है, ता भी व्यवहार नय से कर्मों के पटलों से घिरा हुआ है। इसलिए उसके ज्ञान के सुमति ज्ञान आदि बहुत भेद हो जाते हैं।

☐ मैं राजा हूं, मैं धनवान हूं, मैं बड़ा हूं, मैं दीन हूं, मैं दुःखी हूं, मैं रोगी हूं, मैं निरोगी हूं, मैं सुन्दर हूं, मैं कुरूप हूं, मैं पुरुष हूं, मैं स्त्री हूं इत्यादि अहंबुद्धि होती है। यह तन मेरा है, यह धन मेरा है, यह वस्त्र मेरा है, यह घर मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह खेत मेरा है, यह आभूषण मेरा है, यह भोजन मेरा है, यह ग्रन्थ मेरा है, यह मन्दिर मेरा है इत्यादि ममकार बुद्धि पैदा होती है। इस अहंकार ममकार के द्वारा वर्तन करते हुए चारों कषायों की प्रबलता हो जाती है और यह मोही प्राणी संसार के झंझटों में व सुख तथा दुःखों में उलझा रहता है। कभी अपने सच्चे सुख को व अपनी शान्ति को नहीं पाता है।

☐ जब तक शरीर में तन्दुरुस्ती है व जब तक इन्द्रियों में शक्ति मौजूद है तब तक तप कर लेना योग्य है। वृद्धावस्था में मात्र परिश्रम है, तब तप की सिद्धि कठिन है। जब तक आयु दृढ़ है तब तक धर्म कार्य में बुद्धि करनी योग्य है। जब आयु कर्म क्षय हो जायेगा तब तू क्या करेगा ?

☐ हे आत्मन् ! पुण्यहीन होने के पश्चात् तुम्हारा मंत्र तंत्रादिक कोई भी शरण नहीं है। अतः किसी अन्य में बुद्धि न करके केवल धर्म को ही अपनाओ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

☐ हे आत्मन् ! शरीर के मोह के कारण तू अनादि काल से उसका साथ करते हुए शरीर सम्बन्धी पुत्र, मित्र, कलत्रादि कुटुम्बी जनों को अपना समझकर उनकी रक्षा करने के लिए अनेक पाप-संचय करके देश-विदेश में भ्रमण करके धन-संचय करता रहा और तूने उस धन की रक्षा में रात-दिन चिताग्रस्त होकर राज भय, चोर भय इत्यादि को सहन करते हुए अनन्त दुःख रूपी बेलि को बढ़ाया और अपने ऊपर महान् आपत्तिकारी कालरूपी कुठाराघात करके अत्यन्त दुःखमय नरक व तिर्यंचादि गतियों में पड़कर हमेशा वेदना देने वाले कराल काल के ऊपर विश्वास करके तू सदा संतोष धारण किये रहा और उनके द्वारा होने वाले दुःख का कुछ भी ध्यान न करके चारों गतियों में घोर दुःख ही दुःख उठाया। उस दुःख के समय स्वजन, इष्ट, मित्र, पुत्र, कलत्र तथा राजा आदि कोई भी तेरी रक्षा करने के लिए समर्थ न हो सके। यदि तुझे अपने आत्मा की रक्षा करके इस दुःख से छुटकारा पाकर शाश्वत सुख को प्राप्त करना है तो तू केवल जैन धर्म की ही शरण ले, क्योंकि यह जैन धर्म ही तुझे जन्माटवी संकटों से पार उतारने वाला है। अन्य कोई धर्म संसार-सागर से पार नहीं उतार सकता।

☐ नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देवगतियों में तथा अनेक योनियों में जन्म लेकर बालत्व, यौवनत्व तथा वृद्धत्व अवस्था को प्राप्त करके महादुःख का अनुभव किया, किन्तु सुख का लेशमात्र भी इस आत्मा को न मिल सका। इस प्रकार अनादि काल से भवभ्रमण करते हुए इस जीव के केवल एक ही माता, पिता, भाई, बन्धु, स्वजन तथा परिवार आदि न होकर असंख्य हो चुके हैं और उनमें भी जाति-जरा-मरणादिक के असह्य विविध प्रकार के दुःख देने वाले पुत्र, मित्र, कलत्रादि, कुटुम्बीजन जब तक इस जीवात्मा के साथ पुण्य-संचय था तब तक साथ देते रहे, पर जीवन-यात्रा समाप्त हो जाने पर वे ही कुटुम्बीजन केवल श्मशान तक साथ जाकर लौट आये और उसकी जीवित अवस्था में विविध प्रकार के पाप-पुण्य द्वारा संचित किये गये उसके संपूर्ण धन के स्वामी बन गये। हे आत्मन् ! यह सब कुछ होते हुए भी तू सांसारिक क्षणिक सुखों को छोड़कर आत्म-कल्याण की भावना क्यों नहीं करता ?

भगवान् महावीर और उनका तत्त्व दर्शन

☐ सुख जीवों का सर्वोपरि ध्येय है और उसकी प्राप्ति धर्म से होती है। धर्म सुख का साधन (कारण) है और साधन कभी साध्य (कार्य) का विरोधी नहीं होता। इसलिए धर्म से वास्तव में कभी दुःख की प्राप्ति नहीं होती। वह तो सदा दुःखों से छुड़ाने वाला ही है।

☐ धर्म करते हुए भी यदि कभी दुःख उपस्थित होता है तो उसका कारण पूर्वकृत कोई पाप-कर्म का उदय ही समझना चाहिये, न कि धर्म ! धर्मशब्द का व्युत्पत्त्यर्थ अथवा निरुक्त्यर्थ भी इसी बात को सूचित करता है और उस अर्थ को लेकर ही तीसरे विशेषण की घटना (सृष्टि) की गई है। उसमें सुख का उत्तम विशेषण भी दिया गया है, जिससे प्रकट है कि धर्म से उत्तम सुख की; शिवसुख की अथवा यों कहिये कि अबाधित सुख की प्राप्ति तक होती है। तब साधारण सुख तो कोई चीज नहीं है—वे तो धर्म से सहज में ही प्राप्त हो जाते हैं। सांसारिक दुःखों से छूटने से सांसारिक उत्तम सुखों का प्राप्त होना उसका आनुषंगिक फल है। धर्म उसमें बाधक नहीं और इस तरह प्रकारान्तर से धर्म संसार के उत्तम सुखों का भी साधक है।

☐ वस्तुतः पतित उसे कहते हैं जो स्वरूप से च्युत है, स्वभाव में स्थिर न रहकर इधर-उधर भटकता और विभाग-परिणतिरूप परिणमता है और इसलिए जो जितने अंशों में स्वरूप से च्युत है वह उतने अंशों में ही पतित है। इस तरह सभी संसारी जीव एक प्रकार से पतितों की कोटि में स्थित और उसकी श्रेणियों में विभाजित हैं। धर्म जीवों को उनके स्वरूप में स्थिर करने वाला है, उनकी पतितावस्था को मिटाता हुआ उन्हें ऊंचा उठाता है और इसलिए पतितोद्धारक कहा जाता है। कूप में पड़े हुए प्राणी जिस प्रकार रस्से का सहारा पाकर ऊंचे उठ आते हैं और अपना उद्धार कर लेते हैं उसी प्रकार संसार के दुःखों में डूबे हुए पतित जीव भी धर्म का आश्रय एवं सहारा पाकर ऊंचे उठ आते हैं और दुःखों से छूट जाते हैं।

☐ धर्म को प्राचीन या अर्वाचीन आदि न बतलाकर जो समीचीन विशेषण से विभूषित किया है वह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि प्रथम तो जो प्राचीन है वह समीचीन भी हो ऐसा कोई नियम नहीं है। इसी तरह जो अर्वाचीन है वह असमीचीन ही हो ऐसा भी कोई नियम नहीं है। उदाहरण के लिए अनादि मिथ्यात्व तथा प्रथमोपशम सम्यक्त्व को लीजिये। अनादिकालीन मिथ्यात्व प्राचीन से प्राचीन होते हुए भी समीचीन (यथावस्थित वस्तुतत्त्व के श्रद्धानादिरूप में) नहीं है और इसलिए मात्र प्राचीन होने से मिथ्याधर्म का समीचीन धर्म के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। प्रत्युत इसके, सम्यक्त्व गुण जब उत्पन्न होता है तब मिथ्यात्व के स्थान पर नवीन ही उत्पन्न होता है, परन्तु नवीन होते हुए भी वह समीचीन है और इसलिये सद्धर्म के रूप में उसका ग्रहण है। उसकी नवीनता उसमें बाधक नहीं होती। नतीजा यह निकला कि कोई भी धर्म चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, यदि वह समीचीन है तो वह ग्राह्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है अन्यथा ग्राह्य नहीं है । और इसलिए प्राचीन-अर्वाचीन से समीचीन का महत्त्व अधिक है, वह प्रतिपाद्य धर्म का असाधारण विशेषण है, उसकी मौजूदगी में ही अन्य दो विशेषण अपना कार्य भली प्रकार से करने में समर्थ हो सकते हैं । अर्थात् धर्म के समीचीन (यथार्थ) होने पर ही उसके द्वारा कर्मों का नाश और जीवात्मा को संसार के दुःखों से निकाल कर उत्तम सुख में धारण करना बन सकता है— अन्यथा नहीं । इसी से समीचीनता का ग्राहक प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकार के धर्मों को अपना विषय बनाता है अर्थात् प्राचीन-अर्वाचीन का मोह छोड़कर उनमें जो भी यथार्थ होता है उसे ही अपनाता है ।

☐ जैन धर्म के अनुसार जगत् में प्रत्येक प्राणी अव्यक्त परमात्मा है । हर आत्मा अपने सहज स्वरूप को जानने के बाद परमात्मा बन सकता है ।

☐ जुआ खेलना, मांस भक्षण करना, मद्यपान करना, वेश्या सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना, पर-स्त्री सेवन ये सप्त व्यसन संसार परिभ्रमण के कारण, रोग, क्लेश, बंध बंधनादि के कराने वाले, पाप के बीज, मोक्ष मार्ग में विघ्न करने वाले, सर्व अवगुणों के मूल, अन्याय की मूर्ति तथा लोक-परलोक बिगाड़ने वाले हैं । जो सप्त व्यसनों में रत होता है उसके विशुद्ध लब्धि अर्थात् सम्यक्त्व धारण होने योग्य पवित्र परिणामों का होना सम्भव नहीं, क्योंकि उसके परिणामों में अन्याय से अरुचि नहीं होती । ऐसी दशा में शुभ कार्यों से तथा पवित्र धर्म से रुचि कैसे हो सकती है ? इसलिए प्रत्येक स्त्री-पुरुष को इन सप्त व्यसनों को सर्वथा तज कर शुभ कार्यों में रुचि रखते हुए नियमपूर्वक सम्यक्श्रद्धानी बनना चाहिये और गृहस्थधर्म के उपयुक्त अष्टमूलगुण धारण करने चाहिए ।

☐ सम्यक् दर्शन के समान न तो कोई धर्म है, न होगा । यह सम्यक्त्व ही कल्याण का साधक है । पर मिथ्यात्व के समान तीनों लोकों में दूसरा पाप नहीं है । अतएव यह मिथ्यात्व ही सारे अनर्थों की जड़ है । उस सम्यक्त्व की प्राप्ति जीवादि सप्त तत्त्वों के श्रद्धान से तथा सर्वज्ञदेव, सद्ग्रंथ और निर्ग्रंथ गुरुओं के श्रद्धान से होती है, जिसकी प्राप्ति से ही ज्ञान चारित्र को सत्य कहा जा सकता है ।

☐ संसार के आयु, लक्ष्मी-भोग आदि इन्द्रियजन्य सुख विद्युत के समान क्षणभंगुर और विनश्वर हैं, अतएव भव्य जनों को सदा मोक्ष का ही सेवन करना चाहिए । संसार में जीव को मृत्यु-रोग-क्लेश आदि दुःखों से रक्षा करने वाला और कोई दूसरा मार्ग नहीं है । धर्म ही एक शरण है । दुःखादिकों के निवारण के लिए सदा उसका पालन करते रहना चाहिए । संसार-सागर दुःखों का आगार है, उसके पार होने के निमित्त रत्नत्रय का सेवन करना बड़ा ही आवश्यक है । जीव को यह समझ लेना चाहिए कि मैं अकेला हूं, यदि कोई मेरा सहायक हो सकता है तो वे भगवान् जिनेन्द्र देव हैं । इस प्रकार शरीर से अपने को भिन्न समझ कर आत्म-ध्यान में शरीर की ममता से मुक्त हो, संलग्न हो जाना चाहिए । यह शरीर सप्तधातुमयी निन्दित है, दुर्गन्धि का घर है, ऐसा समझकर बुद्धिमान लोग धर्म का ही आचरण करते हैं ।

☐ वस्तुतः वे बड़े ही मूर्ख हैं जो थोड़ी आयु पाकर तपस्या के बिना अपने अमूल्य समय को नष्ट कर देते हैं । वे यहां भी दुःख भोगते हैं और नरकादि की यातनायें भी । मैं ज्ञानी होते हुए संयम के अभाव में एक अज्ञानी की भांति भटक रहा हूं । अब गृहस्थाश्रम में रहकर समय व्यतीत करना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता । वे तीनों ज्ञान ही किस काम के, जिनके द्वारा आत्मा को और कर्मों को अलग-अलग न किया जाय तथा मोक्षरूपी लक्ष्मी की उपासना न की जाय । ज्ञान प्राप्त करने का उत्तम फल उन्हीं महापुरुषों को प्राप्त है, जो निष्पाप तप का आचरण करते हैं ।

☐ उस व्यक्ति के नेत्र निष्फल हैं जो नेत्र होते हुए भी अन्धकूप में गिरता है, वही दशा ज्ञानी पुरुषों की है जो ज्ञान होते हुए भी मोहरूपी कूप में बंधे रहते हैं । वस्तुतः अज्ञान (अनजान) में किए हुए पाप से ज्ञान प्राप्त होने पर छुटकारा भी मिल जाता है, ज्ञानी (जानकार) का पाप से मुक्त होना दुष्कर होता है । अतएव ज्ञानी पुरुषों को मोहादिक निन्दनीय कर्मों के द्वारा किसी प्रकार का पाप नहीं करना चाहिये । इसका कारण यह है कि मोह से राग-द्वेष उत्पन्न होता है । उस पाप के फलस्वरूप जीव को बहुत दिनों तक दुर्गतियों में भटकना पड़ता है । वह भटकना भी साधारण नहीं अनन्त काल तक का, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता ।

☐ संसार में जितनी भी दुष्प्राप्य वस्तुएं हैं वे सब धर्म के प्रसाद से अनायास प्राप्त होती हैं । धर्म ही माता-पिता तथा साथ-साथ चलने वाला, हित करने वाला है । वह कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और रत्नों का खजाना है । वे पुरुष इस संसार में धन्य हैं जो प्रमाद का परित्याग कर धर्म का पालन करते हैं । उन्हीं की संसार में पूजा होती है । किन्तु जो पुरुष धर्म के अभाव में समय व्यतीत करते हैं, वे पशु के सदृश हैं । । ऐसा समझकर बुद्धिमान धर्म के बिना एक क्षण का समय भी व्यर्थ न जाने दें ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

☐ इस संसार में अर्हन्त से बढ़कर कोई उत्कृष्ट देव नहीं, निर्ग्रन्थ से बढ़कर महत्त्वशील गुरु नहीं, अहिंसा आदि पंचव्रतों से उत्तम अन्य कोई व्रत नहीं, जिनमत से श्रेष्ठ कोई मत नहीं, सबके हृदय को प्रकाशित करने वाला ग्यारह अंग चौदह पूर्व से बढ़कर दूसरा कोई शास्त्र-ज्ञान नहीं, सम्यक् दर्शन इत्यादि रत्नत्रय से बढ़ कर दूसरा कोई परमोत्कृष्ट मोक्ष का मार्ग नहीं और पांच परमेष्ठियों से बढ़कर भव्य जीवों के लिए कोई दूसरा कल्याण एवं हितकारी नहीं हो सकता।

धर्मामृत

☐ ऐसी कविता जो साधुजनों के समान ही मात्सर्यवश मूक रहने वाले व्यक्तियों को भी बलात् साधुवाद (धन्य-धन्य) कहने को मुखरित कर दे, वही वास्तविक कविता है। इससे भिन्न नहीं। वस्तुतः जिन्हें सुनकर प्रसन्नता से कन्धा ऊँचा करते हुए मृगादि पशुगण भी अपने मुख में चबाये जाते हुए घास को अधचबाया छोड़ दें, वही कविता वास्तविक है। इससे भिन्न कविता भी कोई कविता है ?

☐ जिस प्रकार बरसात के पानी के बिना गन्ना कोमल और सुरस नहीं हो सकता, उसी प्रकार भगवान् की वाणी के बिना सुकवि मधुर और अच्छे शास्त्र की रचना नहीं कर सकता। जिस प्रकार रसोई में बिना नमक के सरस शाक आदि भोजन नहीं बन सकता है, तथा घी के साथ अगर नमक का प्रयोग नहीं किया जाएगा तो जीभ को स्वाद नहीं आता, उसी प्रकार यदि कविता में भगवान् की वाणी का रसास्वाद नहीं होगा तो वह मधुर तथा सुकाव्य नहीं बन सकती।

☐ जीवों को इस जगत् में सम्पूर्ण वैभव सुलभता से प्राप्त होता है किन्तु तत्ववेत्ता पुरुष की दृष्टि से गुरुओं के वचन दुर्लभ हैं। सद्गुरु के बिना भी जो संसार-समुद्र से तैर जाने की इच्छा करते हैं, वे मूढ़ जीव आयु कर्म से रहित होकर भी जीने की इच्छा करते हैं। जिन्होंने गुरु-उपदेश का उल्लंघन किया है वे लोग अन्तर्मुहूर्त काल में भी अनेक योनियों में क्षुद्रभव धारण कर भ्रमण करते हैं।

☐ जो सौ इन्द्रों के द्वारा पूजनीय हैं एवं अठारह दोषों से रहित हैं ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुखकमल से विनिर्गत पवित्र वाणी के अर्थ को तत्त्व कहते हैं। क्रम से कहे हुए तत्त्व के ऊपर अचल श्रद्धा न रखना और व्यवहार तथा निश्चयनय मार्ग से उसे समझकर स्व-आत्म-अनुभूति करना तत्त्वश्रद्धान है। यह तत्त्वश्रद्धान (सम्यग्दर्शन) तीनों लोकों में पूजनीय है, अविनाशी सुख-शान्ति रूप मोक्ष सुख को देने वाला है।

☐ बिना सम्यग्दर्शन के मनुष्य की शोभा नहीं है। जिस प्रकार सेना हो, किन्तु सेनापति न हो तो सेना शोभारहित होती है; मुख है किन्तु यदि नाक नहीं तो मुख की शोभा नहीं होती; अंगूठी के बिना अंगुली शोभायमान नहीं लगती, जिस प्रकार बिना धुरी के गाड़ी चलने में समर्थ नहीं, हाथ जिस प्रकार अंगूली के बिना शोभा नहीं देता, बिना तेल के जिस प्रकार दीपक प्रकाश नहीं देता, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् के मानवों की शोभा सम्यग्दर्शन के बिना नहीं है।

☐ जो व्यक्ति अन्याय से धन कमाता है, उसे राजा भी दण्ड देता है तथा लोक में भी उसका अपमान होता है एवं अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। इसलिए न्याय से ही धन कमाना चाहिए। ऐसा करने से ही यह जीव इस लोक में सुखी रह सकता है। न्याय से कमाया हुआ धन तो सत्पात्र को देने और दुःखी जीवों में बांटने पर उनके दुःखों को दूर करने के काम आता है और ऐसा करने से वह जीव भी सुखी होता है। बिना धन के गृहस्थ धर्म चल नहीं सकता, इसलिए गृहस्थ के लिए धन का महत्त्व है।

☐ मेंढक गड्ढे में इकट्ठे हुए कीचड़ के पानी को ही सरोवर मान लेता है, वह विशाल स्वच्छ जल वाले समुद्र को जानता ही नहीं। उल्लू सूरज के प्रकाश को धिक्कार करके रात्रि के अन्धकार को ही अच्छा मानता है क्योंकि उसको दिन में दिखाई नहीं देता, रात को दिखाई देता है। कौवा चन्द्रमा की चांदनी का तिरस्कार करता है क्योंकि उसको चन्द्रमा की चांदनी में अच्छा दिखाई नही देता, इसलिए वह रात्रि की ही प्रशंसा करता है। इसी तरह हीन लोग हमेशा हीन-धर्मों तथा हीन लोगों के संसर्ग में रहकर हीन-प्रवृत्ति तथा कुसंस्कार वाले बन जाते हैं, इस कारण उनको हीन धर्म तथा हीन लोग ही अच्छे लगते हैं। इसी कारण वे उनकी प्रशंसा करते हैं और सज्जनों की निन्दा करते हैं।

☐ जैनधर्म में ऐसा कोई नियम नहीं कि जो राजा, महाराजा या बलवान, पहलवान हो, जैन हो, वही दिगम्बर मुनि बने। किन्तु जो कुल में, शील में, वंश में, बुद्धि में शुद्ध हो, शुद्ध आचार-विचार का हो, ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो या वैश्य हो, वह दिगम्बर मुनि बन सकता है।

☐ जो काम कठिन प्रतीत होता है उसे सरल किया जा सकता है, सिंह के ऊपर सवारी भी की जा सकती है। संसार में जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी असाध्य प्रतीत होने वाले कार्य हैं, उन्हें भी किया जा सकता है; किन्तु हे दयामित्र ! तुम्हारा जो दिगम्बर साधु का व्रत है उसका पालन असाध्य है। वह व्रत नहीं है, वह तो तीक्ष्ण करोंत के समान है, जिसे मैं तो स्पर्श करने में भी डर रहा हूं। मुख से कहना तो सरल है किन्तु उस दिगम्बर मुनि व्रत का पालन करना अति कठिन है।

☐ साधारण चने खाने वाला लोहे के चने नहीं चबा सकता। जैनधर्म केवल चने चबाने के समान नहीं है बल्कि लोहे के चने के समान अत्यन्त कठिन है। इसको महापुरुष ही धारण कर सकते हैं। जैन धर्म का पालन शूरवीर महापुरुष सरलता से करते हैं। जैसे सिंहनी का दूध सोने के पात्र में ही रह सकता है, उसी प्रकार पवित्र जैनधर्म का आचरण पवित्र हृदय वाले धीर-वीर महापुरुष द्वारा ही हो सकता है।

☐ जिसका मन शान्त हो गया है ऐसे निर्ग्रन्थ मुनि तृण और रत्न, शत्रु और मित्र, सुख और दुःख, श्मशान और प्रासाद, स्तुति और निन्दा तथा मरण और जीवन इन इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में स्पष्ट ही समबुद्धि रखते हैं। अभिप्राय यह है कि वे किसी वस्तु पर राग या द्वेष नहीं रखते।

☐ यौवन, धन-सम्पत्ति, अधिकारमद और मूर्खता, यह एक-एक बात भी बहुत अनर्थकारिणी होती है। यदि एक ही व्यक्ति में ये चारों बातें हों तो फिर जो कुछ भी अनर्थ न हो जावे वह कम है। ये चारों बातें मिलकर महान् अनर्थ कर डालती हैं।

☐ महानदियों का पानी कितना निर्मल तथा पीने योग्य होता है किन्तु जब वही खारे समुद्र में जाकर मिल जाता है तो पीने योग्य नहीं रह जाता। उस खारे जल का क्षारत्व उस मीठे जल में भी आ जाता है। यह कुसंग के दोष का परिणाम ही तो है। पानी का स्वभाव शीतल है किन्तु अग्नि के सम्पर्क से वह उष्ण हो जाता है और तब वह अग्नि के समान ही जलाने भी लगता है। शीतलता प्रदान करने वाले जल में दाहकता कहाँ से आई। उस अग्नि के साहचर्य से। ऐसे ही संगति के प्रभाव से मनुष्य में गुण और अवगुण आ जाते हैं। कुसंग से उसके सद्गुण नष्ट हो जाते हैं।

☐ आज शिक्षा के नाम पर फैशन और बाहरी तड़क-भड़क को प्रमुखता दी जा रही है। अनुशासन के स्थान पर उद्दंडता का बोलबाला है। विनय को तुच्छता समझा जाता है। नम्रता को उपहास की दृष्टि से देखा जाता है। सद्गुणों की श्री असद्गुणों के समुदाय में फीकी दिखाई देती है। इसका कारण है शिक्षा के क्षेत्र में तथा परिवार में उत्तम शिक्षकों तथा माता-पिताओं की योग्यता का अभाव। आज के माता-पिता अपने बालकों को स्कूल में भेजकर निश्चिन्त हो जाते हैं और समझने लगते हैं कि हमने अपने बालकों को मार्ग पर लगा दिया यानी अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया। माता-पिता की इस उदासीन मनोवृत्ति के कारण बालक में अपने वंश के स्वच्छ व उच्च संस्कार नहीं आ पाते जिससे कालान्तर में वे अपने परिवार के अनुक्रम में आये हुए शील, शौच, धर्म आदि से अछूते रह जाते हैं। चरित्र-पतन की यह महामारी बालकों को उनकी उचित देखरेख के अभाव में ही त्रास देती है। अतएव समाज भीतर से खोखला हो रहा है और हमारे अपने ही घरों में अपनी ही परम्परा और आचार के प्रति अवज्ञा करने वाले पुत्र उत्पन्न हो रहे हैं। आहार में, विहार में, शिक्षा में, धर्मव्यवहार में कोरे आज के बालक-बालिकाओं को धर्म के प्रति एवं सच्ची शिक्षा के प्रति जागरूक करना माता-पिता और अध्यापकों का, जिनके सम्पर्क में बालक अपनी संस्कार प्राप्त करने वाली अवस्था में रहता है, ध्यान देकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए, क्योंकि बच्चे ही राष्ट्र की भावी निधि हैं, सम्पत्ति हैं।

☐ जो तेजस्वी हो, यशस्वी हो, शरण में आने वाले मनुष्यों की रक्षा करने वाला हो, प्रवीण हो, दुष्टों का निरन्तर शासन (दमन) करता हो, विरोधी राजाओं को नष्ट करने में समर्थ हो, प्रजा की रक्षा करने वाला हो, दानवीर हो, धन का समुचित भोग करता हो, विवेक रखता हो, नीति के मार्ग का अनुसरण करने वाला हो, जिसकी प्रतिज्ञायें किसी उद्देश्य के लिए होती हों, जो किए हुए उपकार को कभी नहीं भूले, वह राजा पृथ्वी-मण्डल पर अखंडित आज्ञा करने वाला होता है तथा अपने धन-धान्य से समृद्ध राज्य का विस्तार करता है।

☐ मक्खियां केवल गन्दगी पर ही बैठती हैं, वे उसी को अपना इष्ट मानती हैं, किन्तु वे कभी भी सुगन्धित चन्दन के पेड़ पर नहीं बैठती। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि मूर्ख लोग पाप-मार्ग को ग्रहण करते हैं, उसी को अपना इष्ट मानते हैं। उससे वे मिथ्यात्व के अन्धकार में भटक कर अनन्त संसारी बनते हैं। उनकी रुचि कभी सद्कर्म के प्रति नहीं होती।

☐ जैसे पान से मुख की शोभा होती है, संगीत से कान तृप्त होते हैं, दिन से जनता जागृत है, सूर्य से प्रकाश होता है, मोती से कंठ की शोभा होती है, उसी तरह निःकांक्षित (सांसारिक सुखों की अनिच्छा) से सम्यक्त्व की शोभा होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

☐ मलयगिरि पर उत्पन्न होने वाला चन्दन का पेड़ समस्त वृक्षों (वनस्पतियों) में श्रेष्ठ है। कमल का पुष्प सभी पुष्पों में उत्तम माना जाता है, समस्त पर्वतों में सुमेरु पर्वत श्रेष्ठ है, समस्त पाषाणों में रत्न श्रेष्ठ होता है, समस्त देवों में इन्द्र श्रेष्ठ है, समस्त इन्द्रों से भगवान् जिनेन्द्रदेव सर्वश्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि उन्होंने समस्त आत्मशत्रुओं को परास्त करके सर्वज्ञ वीतराग परमात्मपद प्राप्त कर लिया है।

☐ जिस प्रकार पतझड़ आने पर वृक्ष के पत्ते वृक्ष से टूट-टूटकर अपने आप गिर जाते हैं, उसी प्रकार सभी ऐश्वर्य आदि पदार्थ काल आने पर नष्ट हो जाते हैं। परन्तु शील (ब्रह्मचर्य) ऐसा सुन्दर आभूषण है जो कभी नष्ट नहीं होता, सदा साथ देता है।

☐ मनुष्य जन्म, उत्तम वंश की प्राप्ति, धन सम्पन्न होना, दीर्घ आयु, नीरोग शरीर मिलना, अच्छे मित्रों की प्राप्ति, अच्छी कन्या, सती पत्नी, भगवान् तीर्थंकर में भक्ति होना, विद्वत्ता, सुजनता, इन्द्रियों पर विजय, योग्य पात्र को दान दे सकने की सामर्थ्य—ये तेरह गुण पुण्य के बिना संसारियों को मिलने दुर्लभ हैं।

☐ जिसके हृदय में काम का वेग उदय हुआ है वह मनुष्य समस्त गुणों से पतित हो जाता है। उसमें न विद्वत्ता रह जाती है और न मनुष्यता रहती है, न वह अपने विमल कुल का स्मरण करता है और न उसकी वाणी में सत्य रहता है।

☐ उसी समय तक अनेक प्रकार के मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र सहायता करते हैं, जब तक प्राणों का पुण्य प्रबल है। जिस प्रकार गाड़ी के चक्रों की कील निकल जाने पर गाड़ी नही चल सकती, और गिर पड़ती है, उसी प्रकार पुण्य का समय निकल जाने पर प्राणी की गति पंगु (लंगड़ी) हो जाती है। उसके सभी उपाय, सभी साधन उस समय व्यर्थ हो जाते हैं।

☐ मूर्ख लोग पत्थर में से तेल निकालना चाहते हैं, मृगमरीचिका में से जल लेना चाहते हैं, रेत की ढेरी में मेरु की कल्पना करते हैं, मोक्ष सुख और इन्द्रिय-सुखों को एक समान समझते हैं, कृत्रिम सुख में वास्तविक सुख की भावना करते हैं। किन्तु क्या किसी ग़लत स्थान में किसी वस्तु की भावना करने से वह वहाँ प्राप्त हो सकती है?

☐ जो मनुष्य जन्म लेकर बाल सफेद होने तक अपने जीवन में संसार की विषय-वासना का अनुभव करते हुए भी भगवान् के चरणकमलरूपी धन को अपने हृदय में सुरक्षित रखता है और मरण पर्यन्त उसे निकलने नहीं देता, वही मनुष्य इस संसार में धन्य है।

☐ संसार में यौवन, धन-सम्पत्ति, प्रभुत्व और अविवेक इनमें से प्रत्येक बात मनुष्य को अंधा बना देती है। फिर यदि ये चारों एक स्थान पर मिल जायें अर्थात् किसी एक ही व्यक्ति को ये चारों प्राप्त हो जाएँ तो फिर उसके बिगाड़ का कहना ही क्या है!

☐ पति के अनुकूल यदि स्त्री हो तो धर्म, अर्थ, काम से तीन पुरुषार्थ मोक्ष के साधन बन जाते हैं। यदि पति-पत्नी में विसंगति (असमानता) होती है तो दोनों लोक बिगड़ जाते हैं।

☐ श्रेष्ठ दयामय धर्म ही सम्पूर्ण प्राणियों के लिए शरणभूत (रक्षक) है, अन्य कोई नहीं। दयामय धर्म ही जिनेन्द्र देव ने समस्त प्राणियों के लिए सुख का कारण बतलाया है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई धर्म ऐसा नहीं है। ऐसा विश्वास करके जिसने उस धर्म को ग्रहण किया है, वही बुद्धिमान है।

☐ सद्धर्म ग्रहण करने में कुल और जाति का कोई बन्धन नहीं है। सदाचार वृत्ति से जो चलता है, उसकी दुनिया में ख्याति होती है किन्तु केवल उत्तम कुल में जन्म लेने मात्र से कोई पूज्य नहीं होता।

☐ परम्परा से चले आ रहे कुल-धर्म को कोई नहीं देखता। ब्राह्मण आदि जाति उच्च है, अमुक जाति नीच है, लोग ऐसा मानते हैं, किन्तु इस तरह मोक्ष की परिपाटी नहीं बन सकती। क्योंकि ब्राह्मण होने पर भी बहुत से लोगों में नीच और पाप की वत्ति देखी जाती है, कहीं-कहीं नीच कुल के व्यक्ति भी अपने उच्च आचार-विचार के कारण जगत्मान्य बन जाते हैं। भीलों में भी कोई-कोई सदाचारी मिलते हैं। सद्धर्म की दृष्टि से सभी तपोधन नहीं हो सकते। बहुत-से साधु का वेष धारण करके तपस्वी और आचारवान् नहीं होते। साधु-साधु में भी अन्तर है। इसी तरह गृहस्थों में भी अन्तर है। महातपस्वी और कुलतपस्वियों में अन्तर है। दोनों समान नहीं हैं। सद्गृहस्थ की अपेक्षा कुलिंगी साधु गये-बीते हैं। जैन गृहस्थ की क्रिया मोक्ष का कारण होती है, जबकि कुलिंगी की क्रिया संसार-वृद्धि का कारण है।

☐ छली-कपटी लोग शुद्ध सोने में अपने लाभ के लिए चांदी-ताँबा-पीतल को मिलाकर उसे असली सोने के नाम पर बेचते हैं, इसी प्रकार दुष्ट लोग धर्म में अधर्म मिलाकर उसे धर्म के नाम पर चलाते हैं और पाप मार्ग की प्रवृत्ति कराते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

☐ आजकल राष्ट्र में मिलावट-विरोधी अभियान चलाये जा रहे हैं। संभव है, इससे वस्तुएँ शुद्ध मिलने लगें। किन्तु शुद्ध धर्म में जो अधर्म मिलकर धर्म के नाम पर चल रहे हैं, यदि इनके विशुद्धीकरण का ही अभियान चलाया जाय तो यह असंभव नहीं कि विश्व-मानस की रुचि अधर्म को अधर्म और शुद्ध धर्म को ही धर्म न मानने लगे। ऐसे अभियान की आज बहुत आवश्यकता है। जिन व्यक्तियों ने भी धर्म में मिलावट की है, उन्होंने भले ही अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति कर ली हो, किन्तु संसार का उन्होंने कोई उपकार नहीं किया, बल्कि अधर्म फैलाकर उन्होंने संसार के करोड़ों व्यक्तियों को सन्मार्ग से भ्रष्ट करने का अपराध किया है। उनका यह अपराध सारी मानवता के प्रति है।

☐ यंत्र-तंत्र-मंत्र से यदि आपत्तियों का निवारण हो जाता तो रामचन्द्र, पाण्डव राजपाट छोड़कर जंगल में क्यों घूमते? उनकी पत्नी का अपमान क्यों होता? यंत्र-मंत्र-तंत्र आदि विद्याओं ने इनको क्यों नहीं बचाया? इनको इतना कष्ट क्यों उठाना पड़ा? क्या वे लोग नहीं जानते थे कि यंत्र-मंत्र-तंत्र आपत्तियों का नाश कर सकते हैं। वस्तुतः अशुभ कर्म का उदय होने पर आपत्तियों का आना अनिवार्य है। पुण्य के उदय होने पर ही मंत्र-वैद्य आदि सहायक हो सकते हैं। जीव कितना ही प्रयत्न करे किन्तु पूर्वजन्म के पुण्य के बिना वह सफल नहीं होता।

☐ चम्पा-चमेली के फूलों को पानी में डालने से पानी सुगंधित होता है और नीम के फूलों को पानी में डालने से पानी कड़वा होता है। इसी तरह मनुष्य जाति में भी गुण-स्वभाव की भिन्नता होने पर उनके परिणामों के फल भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

☐ बिना परीक्षा किये दीक्षा देने वाला तथा बिना इच्छा के बलात् दीक्षा देने वाला गुरु अयोग्य है क्योंकि यदि वह पीछे शिथिलाचारी हो जाय अथवा अपने गुरु के प्रतिकूल हो जाय तो ऐसे गुरु और शिष्य दोनों संसार में परिभ्रमण करते हैं।

☐ दीक्षा लेने के बाद अपने कुल की महिमा, जाति, ऐश्वर्य, गाँव, वैभव, अपनी स्त्री की महिमा का स्मरण करने वाला तथा उसकी प्रशंसा करने वाला मुनि नहीं है, दुर्जन है।

☐ जितने जिनालय हैं, दिव्य तपोधन हैं, श्रावक हैं, उन सबको समान भाव से देखने वाला ही श्रेष्ठ मुनि है। अपने मन में राग-द्वेष उत्पन्न न हो, ऐसी तपस्या करने वाला ही तपस्वी कहलाता है। मन में राग-द्वेष रखकर तपस्या करने वाला मुनि कषाय दग्ध होता है। उसके लिए कषाय ही तप है। जिन्होंने सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर दिया, यदि उसके कषाय-परिग्रह हैं तो निर्ग्रन्थ नहीं है, वह सग्रन्थ है। यदि सग्रन्थ होते हुए भी कषाय-परिग्रह नहीं है तो वह उपचार से निर्ग्रन्थ कहलाता है।

☐ जैनधर्म सम्पूर्ण जीवों का हित करने वाला है, पाप को हटाने वाला है, संसाररूपी बड़वानल को शान्त करने वाला है, सुव्रत का भण्डार है, सम्पूर्ण गुणों से परिपूर्ण है। यह जैनधर्म ही उत्तम कुल, उत्तम जाति, उत्तम माता-पिता, बहन-भाई, मित्र, स्त्री, पुत्र आदि अनेक प्रकार की सम्पत्ति तथा इन्द्रियजन्य सुख को देने में जैसा समर्थ है, वैसा अन्य कोई धर्म समर्थ नहीं है। यह सम्पूर्ण प्राणियों को सुख-शान्ति के लिए जननी के समान है। बिना परमागम के जाने धर्म का ज्ञान नहीं होता। जैनधर्म का मर्म समझ में आ जाता है, तब अक्षय सुख प्राप्त करने की सामग्री प्राप्त हो जाती है और मोक्ष-सुख का साधन मिल जाता है। इसलिए आगम का मनन करना चाहिए, धर्म-अधर्म का ज्ञान करना चाहिए और परमागम का अभ्यास करना चाहिए।

☐ मुर्गी को कितना ही अच्छा भोजन दिया जाय किन्तु वह कूड़े-कचरे को ही कुरेद कर खाती है। इसी प्रकार धूर्त कितने ही माया वेश धारण कर लें, उन्हें कितना भारी भी सम्मान क्यों न प्राप्त हो जाये किन्तु वे अपनी आदत नहीं छोड़ते।

☐ प्रारम्भ में प्रथमानुयोग को श्रद्धानपूर्वक न पढ़कर और उसका मनन न करके जो द्रव्यानुयोग के पठन की इच्छा करते हैं और उसका मनन करके उसके फल की इच्छा करते हैं वे आम का पौधा लगाकर उसमें पानी न देकर फल की इच्छा करते हैं। मूर्ख लोग तीनों अनुयोगों का क्रमिक अध्ययन न करके केवल द्रव्यानुयोग को पढ़कर मोक्ष की इच्छा करते हैं। ऐसे मूर्ख हाथ के बिना भी सोने का कंकण पहनना चाहते हैं।

☐ जिन्हें सुख की इच्छा हो, उनको जिनेन्द्र भगवान् का अर्चन-पूजन और स्मरण दिन-रात करना चाहिए। जो जिनेन्द्र देव भी मनोभावपूर्वक पूजा करता है, वह देवेन्द्र पद का सुख, विद्याधरों का राज-सुख एवं चक्रवर्ती का साम्राज्य प्राप्त करता है। किन्तु जो दूसरों की सम्पत्ति को देखकर ईर्ष्या करता है, उसे कभी सुख नहीं मिल सकता।

☐ धर्म का मार्ग समझे बिना पाप-मार्ग का अवलम्बन करके इहलोक और परलोक के सुख की इच्छा करने वाले मूर्ख हैं। जैसे कोई ज्वार बोकर धान की इच्छा करता हो या नीम बोकर आम की इच्छा करता हो, अथवा भैंस के बजाय भैंसे से दूध की इच्छा करे, उसी प्रकार सधर्म को छोड़कर पाप कर्म करके सुख चाहने वाला निर्बुद्धि है।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

☐ श्रावक धर्म कीर्ति-लक्ष्मी के कुच युगल के समान है, वाणी रूपी लक्ष्मी को सुन्दरता प्रदान करता है और जयलक्ष्मी को सुन्दर वस्त्र प्रदान करने वाला है। इस श्रावक धर्म का आचरण करने वाले दान, पूजा, शील, उपवास आदि में किसी प्रकार की मलिनता नहीं आने देते। श्रावक धर्म सुव्रतों की वृद्धि कर दृढ़ आचरण द्वारा संसार-सागर से पार होने के लिए जहाज के समान है। वह दुश्शंकितरूपी चोर को आने का अवकाश नहीं देता, दुराचार रूपी तरंगों से बचाकर, रागरूपी मगरों से रक्षा करता हुआ, संशयरूपी मच्छों को हटा कर धर्मरूपी जहाज को बचाने की चेष्टा करता है। जैसे घी को तपाती हुई स्त्री अपने उपयोग को इधर-उधर नहीं जाने देती, उसी प्रकार वह ध्यान द्वारा अपने उपयोग को इधर-उधर न जाने देकर कर्मों के नाश का प्रयत्न करता है। श्रावक को जिनागम का अभ्यास करते हुए अपने चरित्र में दृढ़ रहकर सदा कर्म के क्षय का उपाय करना चाहिए।

☐ सर्प को तथा गाय को एक ही कुएं का पानी पिलाने पर सर्प के शरीर में जाकर वह जल विष बन जाता है और गाय के शरीर में जाकर वह दूध बन जाता है। पात्र और अपात्र भी इसी प्रकार हैं। अतः पात्र-अपात्र का विचार करके दान देना चाहिए।

☐ अज्ञानी जगत् निर्ग्रन्थ स्वरूप को देखकर मन में उसका तिरस्कार करता है, किन्तु संसार में निर्ग्रन्थ स्वरूप ही सर्व-सम्मत श्रेष्ठ है। जिनेन्द्रदेव का स्वरूप निग्रन्थ है। यदि संसार की वस्तुओं को देखा जाय तो वे सभी निर्ग्रन्थ (अन्य पदार्थ के संसर्ग से रहित) हैं। निर्ग्रन्थ भाव के बिना कोई तपस्या नहीं हो सकती। निर्ग्रन्थ तपस्या ही इच्छित फल को देने वाली है।

☐ पृथ्वी तथा जन्म लेने वाला बालक, सूर्य, गाय, समुदाय, आकाश, हाथी, समुद्र, घोड़े, अग्नि, वृक्ष, पर्वत आदि लोक में जितने भी पदार्थ हैं, ये सभी निर्ग्रन्थ जिनेन्द्र की मुद्रांकित (नग्न) हैं, दूसरा कोई लांछन (चिह्न) उन पर नहीं है। सम्पूर्ण जगत् में भगवान् का निर्ग्रन्थ लांछन (नग्नता का चिह्न) ही पाया जाता है। जगत् में नग्नत्व पूज्य है, आवरण पूज्य नहीं है। सूर्य का बिम्ब सदा नग्न रहता है, किसी से ढँका हुआ नहीं रहता। छोटे बालक नग्न रहते हैं। सन्तान-उत्पादन तथा सन्तान का जन्म नग्न ही होता है। मरण भी नग्न दशा में ही होता है। इस तरह नग्नत्व के बिना संसार में कोई वस्तु नहीं है।

☐ आकाश में बादलों के पटल छाये होने के कारण चन्द्रमा का प्रकाश नहीं दीखता, प्रकाश दबा रहता है, इसी प्रकार अनादिकाल से कर्मावस्था से आच्छादित होने के कारण जीव का स्वरूप प्रकट नहीं होता।

☐ समुद्र के किनारे खड़े हुए घुने हुए पेड़ को जिस प्रकार समुद्र की तरंगें उखाड़ कर ले जाती हैं, इन्द्रधनुष का रंग जैसे शाश्वत नहीं रहता, अनेक रंगों में बदल जाता है, उसी प्रकार पंचेन्द्रिय सुख भी शाश्वत नहीं है। ऐसा समझकर भी सद्धर्म को छोड़ने वाले जीव मूर्ख नहीं तो क्या हैं?

☐ पागल की सन्तान, बादल की छाया, दोपहर के सूर्य की गर्मी, लोभी का धन, जैसे क्षणिक हैं, उसी प्रकार क्षणिक सम्पत्ति को जगत् में रहने वाले मनुष्य सचमुच में शाश्वत मानकर ग्रहण करते हैं और उसके निमित्त सद्धर्म को नष्ट कर डालते हैं। उन सब को मूर्ख अज्ञानी ही समझना चाहिये।

☐ जैनधर्म प्राणीमात्र का हितकारी है तथा तीन लोक में तिलक के समान है। संसार समुद्र से पार कराने वाला है। तीन लोक में पूजनीय है। देव और चक्रवर्ती के सुख को प्राप्त कराने वाला है। विद्याधरों के सुख को देने वाला है। उत्तम कुल का सुख देने वाला है। शील, संतोष और संयम को प्राप्त कराने वाला है। संसार-समुद्र से इस जीव को उठा कर अचल सिद्धों के सुखों में जाकर रखने वाला है। मोक्ष-लक्ष्मी को देने वाला है। अनेक प्रकार के सौभाग्य को प्राप्त कराने वाला है। चिन्तित वस्तु को देने वाला है। ऐसे धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

☐ सदा घर को स्वच्छ-शान्त रखने वाली, सद्विचार से काम करने वाली सती स्त्री को घर से निकाल कर घर को गन्दा रखने वाली, दुष्टविचार वाली स्त्री को लाकर घर में रखने वाले मूर्ख के समान सुख-शान्ति देने वाले सद्धर्म को ठुकराकर दुर्गति में ले जाने वाले पापयुक्त कुधर्म का सेवन करने वाला मनुष्य कभी दुखदायी संसार से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

☐ परस्त्री में आसक्त पुरुष को कहीं गति नहीं, उसे दया नहीं, बुद्धि नहीं, सुगति नहीं, मति नहीं, धृति नहीं। ऐसे मनुष्यों को जगत् में सज्जन पुरुषों का आश्रय नहीं मिलता, न उनका मान होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org